सम्मति

श्रीमान डॉ० लालवहादुर जी शास्त्री साहित्यचार्य एम० ए० पी० एच० डी० रीडर लालवहादुर शास्त्री सस्कृत विद्यापीठ, देहली द्वारा लिखित प्रस्तुत ग्रथ—'कुन्दकुन्द और उनका समयसार' को आद्योपान्त अक्षरशः पढकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई। आचार्य कुन्दकुन्द और उनके उपलब्ध ग्रथो, विशेषत सयमसार पर आपने विशद प्रकाश डाला है और पूर्वागत अनेक भ्रान्तियो का सप्रमाण निरसन किया है। प्रस्तुत ग्रथ मे जो तुलनात्क अध्ययन लिखा गया हे वह आपके व्यापक अध्ययन का अनुमापक है। ऐसे विशिष्ट ग्रथ के प्रणयन के लक्ष्य मे मैं लेखक को हार्दिक बधाई देता हू।

—अमृतलाल जैन साहित्यजै० द० अथार्त
जै० द० विभागाध्यक्ष
स० सस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी
१२-३-७६
पूर्वान्ह १० वजे

सुत्तपाहुड मोक्खपाहुड भावपाहुड, लिंगपाहुड, सीलपाहुड) पवयणसार पाहुड, पंचास्तिकाय नियमसार बारसअणुवेक्खा और समयसार।

समयसार ग्रंथ में—जिसका संस्कृतनाम समयप्राभृतम् और प्राकृतनाम समयपाहुड है शुद्ध आत्मतत्त्व का विस्तार से विवेचन है। इसमें यत्र-तत्र दार्शनिक पुट है पर यह ग्रंथ है आध्यात्मिक। समयसार (समय पदार्थ, सार-श्रेष्ठ) का अर्थ आत्मा है जो समस्त पदार्थों में श्रेष्ठ है।

समयसार के अनुकरण पर पश्चाद्वर्ती आचार्यों एवं पण्डितों ने अनेक रचनाएँ प्रस्तुत की जिन आचार्यों में प्रमुख हैं आचार्य पूज्यपाद आचार्य गुणभद्र नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती योगीन्दुदेव पण्डितप्रवर आशाधर रायमल्ल पं० बनारसीदास पं० दौलतराम।

आचार्य कुन्दकुन्द की विशिष्ट साहित्यिक उपलब्धि उनका समयसार ग्रंथ है। अध्यात्म चेतना को उद्‌बुद्ध करने वाला यह ग्रंथ न केवल जैन वाङ्मय में, बल्कि भारतीय वाङ्मय में विशिष्ट महत्त्व रखता है। आत्मविद्या समस्त विद्याओं में श्रेष्ठ है। उपनिषदों में इसी को पराविद्या कहा गया है। भगवद्‌गीता १० ३२ में अध्यात्मविद्या को सर्वोपरि कहा गया है। आत्मविद्या विद्यामान्। ब्राह्मण, उपनिषद्, मनुस्मृति आदि में भी इसका उल्लेख पाया जाता है।

इस शोध युग में भी कुन्दकुन्द और उनके समयसार पर शोधकार्य में शोध की न्यूनता थी। इस ओर डा० लालबहादुर शास्त्री रीडर लाल बहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ, देहली का ध्यान गया। आपने कठिन परिश्रम से प्रस्तुत विषय पर इस शोध प्रबन्ध को तैयार किया। इसी पर आपको आगरा विश्वविद्यालय ने पी० एच० डी० उपाधि से सम्मानित किया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का ध्यानपूर्वक देखने पर स्पष्ट आभास होता है कि यह गम्भीर शोध मनन चिन्तन एवं वैदुष्यपूर्ण श्रम का परिणाम है। डा० लालबहादुर शास्त्री बहुश्रुत प्रौढ़ विद्वान हैं। अपने आचार्य कुन्दकुन्द और उनके साहित्य के अनेक तथ्यों पर विशद और प्रमाणित प्रकाश डाला है।

यह शोध प्रबन्ध आठ अध्यायों में विभक्त है। यों सभी अध्याय वैदुष्यपूर्ण पर पञ्चम अध्याय अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व रखता है। उसमें विद्वान लेखक ने समयसार का अध्ययन प्रस्तुत किया है। वैदिक साहित्य के अनेक ग्रंथों के साथ यहीं समयसार का तुलनात्मक विवेचन करते हुए अपना पक्ष स्थापन रखा है।

इस शोध प्रबन्ध को लिखने के उपलक्ष्य में मैं लेखक को हार्दिक बधाई देता हूँ। आशा है इसका अधिकाधिक प्रचार होगा।

रथयात्रा एकादशी। करुणापति त्रिपाठी
संवत् २०३२ वि०। कुलपति सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी।

आपने सुजानगढ मे एक सार्वजनिक स्कूल स्थापित किया तथा गौहाटी मे एक मौंटेसरी स्कूल भी अपनी धर्मपत्नी के नाम से स्थापित किया ।

समाज के अग्रणी नेता

वे अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक समाज की सबसे पुरानी सस्था अखिल भारतीवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के अध्यक्ष पद पर सुशोभित रहे । उनकी सेवाओ के लिये समाज मे श्रावक तथा विद्वत् वर्ग ने उन्हे समय पर जैनरत्न, धर्मवीर दानवीर, श्रवकशिरोमणि, आचार्यसघभक्त दिवाकर, गुरु भक्तशिरोमणि आदि उपाधियो से सम्मलित किया था । आप मे निहित गुरुभक्ति श्लाघनीय एव अनुकरणीय थी । मुनिसघो की परिचर्या तथा उनके सानिध्य मे रहकर धर्मसाधना करने मे आप सदैव सपत्नीक दत्तचित्त रहते थे ।

आप श्री १००८ भगवान महावीर स्वामी के २५०० वे निर्वाण महोत्सव के कार्यक्रमो की प्रगति के लिये सचेष्ट रूप से क्रियाशील थे और इस सम्बन्ध मे अनेक प्रान्तीय गठित समितियो के अध्यक्ष थे ।

निर्माण एव सरक्षण

स्व० श्री सरावगी जी मदिरो के निर्माण, मानस्तम्भो की स्थापना तथा अन्य धार्मिक अनुष्ठानो मे श्रद्धापूर्वक भाग लेते थे । गौहाटी, मरसलगज, शान्तिवीरनगर तथा श्री महावीर जी मे सम्पन्न पच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सवो मे आपका मुक्तहस्त मे सहयोग सर्वविदित है । स्व० श्री सरावगी जी ने सुजानगढ मे मानस्तम्भ का निर्माण कराया तथा शान्तिवीरनगर (महावीरजी) मे ६१ फीट ऊँचे सगमरमर के मानस्तम्भ का निर्माण कार्य प्रारम्भ किया जो अभी भी उनके सुपुत्रो द्वारा निर्माणाधीन है ।

स्व० श्री सरावगी जी के सर्व श्री गणपतराय, रतनलाल व भागचन्द तीनो योग्य पुत्र है तथा तीनो ही विवाहित है उनकी गिनियादेवी, किरणदेवी, विमलादेवी, तथा सरलादेवी पाच पुत्रिया धर्मप्राण, सुसस्कृत और सम्पन्न परिवारो मे विवाहित हैं ।

स्वय मे सस्थाओं का समूह

लगभग ६० सस्थाओ मे स्व० श्री सरावगी जी सम्बद्ध थे जिसमे से अनेक अखिल भारतीय ख्याति की है । जिनके वे अध्यक्ष थे । अनेक स्थानीय महत्व की हैं, अनेक धार्मिक हैं अनेक सामाजिक हैं अनेक शैक्षणिक है और अनेक राष्ट्रिय सामाजिक कार्यक्रमो को चलाने वाली है ।

(स्व० दानवीर सेठ श्री चाँदमलजी सरावगी)

मरुप्रदेश (राजस्थान) के सालगढ़ ग्राम में स्वनामधन्य स्वर्गीय श्री सूरजमलजी सरावगी के घर मातुश्री जवरीबाई की कुक्षि से ३ जनवरी १९१२ को स्व० सेठ चाँदमलजी का जन्म हुआ था। स्व० श्री सरावगी जी का बचपन तथा छात्रकाल कलकत्ता में बीता जहाँ के विश्वविद्यालय से उन्होंने सन् १९३० में मैट्रिकुलेशन किया। शिक्षा प्राप्त करने के बाद स्व० श्री सरावगी जी ने तत्कालीन विख्यात फर्म मानिकराम चुन्नीलाल राय बहादुर एण्ड कम्पनी में व्यावसायिक जीवन आरम्भ किया और अल्पकाल में ही उक्त मैनेजिंग पार्टनर तथा गौहाटी डिवीजन के प्रबन्धक बन गए। श्री सरावगी जी ने धर्म तथा समाज के कार्यों में आस्था और रुचि रखते हुए अपने उद्यम में खूब धनार्जन किया और उनकी गणना असम के प्रमुख उद्योगपतियों में होने लगी।

शिक्षा के अनुरागी

भारत स्वतन्त्र से पूर्व ही ता० ११-८-४७ को ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रदत्त सभी उपाधियों को लौटाकर स्व० श्री सरावगी जी ने अपनी निःस्पृहता का परिचय दिया।

गौहाटी विश्वविद्यालय के निर्माण में उन्होंने सक्रिय रूप से भाग लिया। स्वर्गीय सर्वप्रिय गोपीनाथ बारदोलोई के अथक प्रयास से गौहाटी विश्वविद्यालय के संयुक्त कोषाध्यक्ष रहे। उन्होंने गौहाटी, सिल्चर, शिलांग तथा असम के अन्य महत्वपूर्ण कस्बों में छात्र भवन बनाने के लिए यथेष्ट आर्थिक सहायता प्रदान की। डा० बा० दा० [illegible] ई० एन० टी० इन्स्टीच्यूट गौहाटी, कस्तूरबा चिकित्सालय, पटना चिकित्सालय, [illegible] विद्यापीठ, बनारसी गुरुकुल कुम्भोज (महाराष्ट्र), बाहुबली विद्यापीठ हुम्मच (कर्नाटक), बरदोला स्मृति समिति, नागांव कामरूप अनुसन्धान समिति, गौहाटी, मदना आश्रम तथा विभिन्न स्थानों पर चल रहे मारवाड़ी विद्यालय आदि कई संस्थाएं हैं जिनकी स्थापना तथा बाद में संचालन में स्व० श्री सेठ सरावगी जी का उल्लेखनीय योगदान था। निःस्वार्थ कर्तव्य में अटूट विश्वास रखने वाले तथा धार्मिक आस्थाओं से युक्त स्व० श्री सरावगी जी अपने जीवन काल में अनेकों विधवाओं तथा निर्धन छात्र छात्राओं को सहायता प्रदान करते रहते थे।

भूमिका

भारतीय वाङ्मय की श्रमण परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द और उनके समयसार का अपना एक अप्रतिम स्थान है। भारतवर्ष का यह बडा सौभाग्य रहा है कि यहाँ ऋषियो, मुनियो, श्रमणो और अनेकानेक तपस्वी मनीषियो ने जब जन्म लिया और वे अपने-अपने समय व क्षेत्र मे समकालीन समाज का सुधार करने के साथ-साथ अपने उपार्जित ज्ञान का ऐसा सतत जाज्वल्यमान प्रकाश भी छोड गये, जो उत्तरवर्ती पीढियो को भी अज्ञान के अन्धकार से बचाता आ रहा है, प्रकाश का स्रोत यद्यपि एक ही रहा, क्योकि वह वस्तुत है भी एक ही यद्यपि उसकी अनुभूति और सप्रेषण मे विभिन्न मनीषियो का अपना अलग मत होना स्वाभाविक ही था अत अज्ञान की पर्तों को जहा तक या जिस रूप मे भेद कर जो मनीषी जहाँ तक पहुंचा वही पर या उसी रूप मे उसको ज्ञान की प्राप्ति या प्राप्तिका आभास हुआ। परिणाम स्वरूप धीरे-धीरे भारत मे ऐसे तप पूत मनीषियो की दो परम्पराएँ प्रचलित हुई —जिनमे से एक है वैदिक और दूसरी श्रमण। वैदिक परम्परा मे और आगे चलकर कई दर्शनो या सम्प्रदायो का विकास हुआ उसी प्रकार श्रमण परम्परा मे भी हुआ। तथापि दोनो परम्पराओ के बीच ज्ञान-विज्ञान के जन्म के साथ ही विद्यमान रहे होगे किन्तु ऐतिहासिक प्रमाणो के आधार पर यह तो स्वीकार करना ही होगा कि वैदिक परम्परा के मूल ग्रन्थो का निर्माण श्रमण परम्परा के मूल ग्रन्थो के निर्माण से पहले हुआ। श्रमण परम्परा भी दो धाराओ मे आगे बढी—बौद्ध और जैन। बौद्ध मत मे भी हीनयान और महायान सम्प्रदायो का विकास हुआ और जैनमत मे दिगम्बर तथा श्वेताम्बर सम्प्रदायो का। इन सभी मतो या सम्प्रदायो के सिद्धान्तो के सम्यक् निरुपण करने के लिए शास्त्रीय ग्रन्थो की रचना की गई। परिणाम स्वरूप जिन शास्त्रकार की कृति का जन समाज मे अधिक आदर हुआ वह शास्त्रकार सबद्ध समाज, सम्प्रदाय या पथ के लिए लगभग उतना ही आदरणीय हो उठा, जितना कि उनका मूल प्रवर्तक था। जैन परम्परा मे भगवान् महावीर के साथ ही जिनका नाम लेना मगलकारक माना जाता है वे है गौतम गणधर और आचार्य कुन्दकुन्द। कहा भी गया है कि—

मंगल भववान्वीरो मगलं गौतमो गणी।
मगल कुन्दकुन्दाद्यो जैन धर्मोऽस्तु मगलम्॥

सामाजिक सम्मान

आपकी उल्लेखनीय सेवाओ के उपलक्ष्य में समाज ने कृतज्ञता पूर्वक सदैव आपका सम्मान किया है। अनेक गौरवपूर्ण उपाधियो को प्रदान कर आपको विभिन्न स्थानो से मानपत्र अर्पण किये हैं। दक्षिण भारत व उत्तर भारत के प्रमुख स्थानो में आपको अभिनंदन पत्र समर्पण कर आपका आदर किया गया है।

सेठ साहब कानजी स्वामी कुन्दकुन्द की रचनाओं के अनन्य भक्त थे। समयसार का आप घर पर स्वाध्याय करते थे। आपने डा० लालबहादुरजी शास्त्री से आग्रह पूर्वक इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये कहा और इसके सम्पूर्ण प्रकाशन का भार अपने ऊपर लिया। उसी का यह फल है कि यह ग्रन्थ पाठकों के हाथ में जा सका है।

जन संघ की समुन्नति के लिये आपको स्वास्थ्यमय दीर्घायु का लाभ होना समाज के लिये भाग्य की बात थी किन्तु नियति के क्रूर चक्र के आगे किसी की भी चली नहीं—ता० १८ दिसम्बर १९७४ को आपका जीवन दीपक हमेशा के लिये बुझ गया।

निर्वचन किये हैं।[1] किन्तु सबका सार लगभग यही है कि समयसार आत्मा को कहते हैं और इस ग्रथ पर ही दिगम्बर जैन परम्पर का समग्र अध्यात्म चिन्तन निर्भर रहा है ।

आचार्य कुन्दकुन्द का समयसार नामक यह ग्रथ प्राकृत भाषा मे लिखित एक पद्यबद्ध रचना है। यह जिन अधिकारो मे विभक्त है, उसके नाम है, जीवाजीधिकार कर्तुकर्माधिकार, पुण्यपापाधिकार, आस्रवाधिकार, सवराधिकार, निर्जराधिकार, बन्धाधिकार, मोक्षधिकार सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार, तथा स्याद्वादाधिकार।

अधिकारो के नाम से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रथ मे संसारिक बन्धनो के जीव के छुटकारो के उपायो का विश्लेपण किया गया है दूसरे शब्दो मे यह भी कहा जा सकता है कि इसमे आत्मा और परमात्मा के सबध तथा स्वरूप का निरूपण किया गया है।

आत्मा और परमात्मा के सबध मे मुख्य रूप से दो प्रकार की विचार धारायें भारत के प्राचीन मनीषियो मे प्रचलित रही हैं। एक विचारधारा मे आत्मा के अस्तित्व को भूलभूत सत्य माना गया और उसकी पूर्ण विकसित अवस्था को परमात्मा कहा गया। दूसरी विचार धारा मे परमात्मा को वास्तविक सत्य कहा गया है। और विभिन्न दृश्यमान आत्माओ को परमात्मा का बिम्ब बताया गया है। पहली परम्परा के प्रतिष्ठापक है श्रमण और दूसरी के वैदिक ऋषि। आचार्य कुन्दकुन्द का समयसार अध्यात्मसबधी श्रमण परम्परा का आधार स्तम्भ है।

ऐसे महनीय ग्रथ का जहाँ प्राय बडा आदर होता है, वही उसके अर्थों के सबध मे कई मतवाद या भ्रातिया भी प्रचलित हो जाया करती है। काल के युगानुरूप परिवर्तन भी आ ही जाया करते हैं। अत अधिकतर ग्रथ उपरवर्ती पीढियो के लिए दुरूह बन जाते हैं। अथवा उनके सिद्धातो का युग के अनुरूप सामन्जस्य बिठाने की आवश्यकता पड जाती है। इस आवश्यकता की पूर्ति आजकल शोध ग्रथो के द्वारा की जा रही है। यह बडी प्रसन्नता की बात है कि आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार पर श्री लाल बहादुर जी शास्त्री ने शोध प्रबध लिखा और प्रकाशनार्थ तैयार किया। मुझे श्री शास्त्री जी द्वारा लिखित इस ग्रथ का तथा मूल समयसार का भी यथावसर पारायण करने का अवसर मिला। यद्यपि अब समयसार पर

---

1. सम्यक् अय: बोधो यस्य स भवति समय आत्मा, अथवा समम् एकीभावेन अयनं गमनं समय. जयसेन।

भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् पंचम श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय दुर्भिक्ष पड़ने के कारण जब जैन समाज-व्यवस्था छिन्न भिन्न हो गयी थी ऐसे समय आचार्य कुन्दकुन्द का जन्म हुआ और उन्होंने अपने अगाध ज्ञान व अनुभव के आधार पर दिगम्बर जैन सम्प्रदाय की मान्यताओं को शास्त्रबद्ध करते हुए तत्कालीन अंध विश्वासों कुरीतियों व पाखण्डों का प्रबलता से खण्डन किया। स्व० डा० ए० एन० उपाध्ये श्री जुगलकिशोर मुख्तार डा० ए० चक्रवर्ती तथा पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री प्रभृति विद्वानों ने आचार्य कुन्दकुन्द के समय के संबंध में विस्तार से चर्चा की है। एक प्रकार की मान्यता यह है कि उनका जन्म विक्रम की पहली शताब्दी में हुआ और वि० सं० ४९ में वे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। दूसरी मान्यता के अनुसार वे विक्रम की तीसरी शताब्दी के आरम्भ में हुए थे। प्रस्तुत शोध ग्रंथ में भी कुन्दकुन्द के समय की चर्चा की गई है और ऐतिहासिक पुष्ट प्रमाणों से यह सिद्ध किया गया है कि कुन्दकुन्द विक्रम की पहली शताब्दी में ही हुए हैं। इस संबंध में सभी विप्रतिपत्तियों का निराकरण किया गया है जो अनुसंधाताओं के लिए पठनीय है। आ० कुन्दकुन्द का समय कुछ भी हो रहा पर यह निश्चित है कि वे प्राचीन युग के पुरुष थे।

आचार्य कुन्दकुन्द बहुत प्राचीन मनीषी थे। उनके द्वारा निर्मित ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं—१ नियमसार २ पंचास्तिकाय ३ प्रवचनसार ४ समयसार (समयप्राभृत) बारस-अणुवेक्खा ६ दंसणपाहुड ७ चरित्तपाहुड ८ सुत्तपाहुड ९ बोधपाहुड १० भावपाहुड ११ मोक्खपाहुड १२ लिंगपाहुड १३ सीलपाहुड, १४ रयणसार तथा।[1] ये सभी ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं और सभी का अपना महत्त्व है ? किन्तु आचार्य के जिस ग्रंथ को जैन समाज में सर्वाधिक शास्त्रीय प्रतिष्ठा मिली वह है समयसार।

समय का अर्थ यद्यपि आचार समय काल सिद्धान्त ज्ञान आदि भी है परन्तु इस ग्रंथ में समय शब्द का प्रयोग आत्मा के अर्थ में किया गया है। छह द्रव्यों के अनुसार पर द्रव्यों में पृथक आत्मा में रुचि रखना सम्यक् दर्शन है, प्रयोजन भूत पदार्थों में रुचि की जाती है अप्रयोजन भूत नहीं अतः आत्मा के अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थ अप्रयोजन भूत हैं। इसलिए समयों में सार होने से समयसार का अर्थ आत्मा सिद्ध होता है। समय शब्द के अन्य भी अनेक प्रकार के

---

१ डा० ए० एन० उपाध्ये ने आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथों की संख्या ४३ तक बताई है।

की बात करते है तब इसका अर्थ यह होता है कि आत्मा पृथक वस्तु है और ज्ञान-दर्शनादि पृथक् वस्तु है। जब कि ये घडे और जल की तरह पृथक् वस्तुऐं नही है। किन्तु ज्ञान दर्शन चारित्र का पिण्ड ही आत्मा है और आत्मा ही ज्ञानदर्शन चारित्र है। अत आत्मा मे ज्ञानदर्शन बतलाना भेद दृष्टि है। कुन्दकुन्द इस भेद दृष्टि को अर्थात् व्यवहार दृष्टि को गौण रखना चाहते है इसलिये इसका निषेध करते है। भेद दृष्टि को अभूतार्थ और अभेद दृष्टि को भूतार्थ कहने का भी कुन्दकुन्द का यही प्रयोजन है। जब वे आत्मा को एकत्व विभक्त बताना चाहते है तब अभेद-दृष्टि ही उनके लिए भूतार्थ हो सकती है। जब जिस व्यक्ति के लिए एक दृष्टि भूतार्थ या प्रधान है तब उसी व्यक्ति के लिए उससे विपरीत दृष्टि अभूतार्थ या अप्रधान है। रसोई घर मे घी का घड़ा मगाना ही भूतार्थ है, मिट्टी का घडा मागना अभूतार्थ है। इसके विपरीत कुम्हार के यहां मिट्टी का घडा मागना ही भूतार्थ है, घी का घडा मागना अभूतार्थ है। भेद और अभेद दृष्टि दोनो एक दूसरे के विपरीत है अत एक जीव को एक ही दृष्टि एक समय मे प्रयोजनभूत या भूतार्थ हो सकती है। समयसार मे आ० कुन्दकुन्द को एकत्व विभक्त आत्मा को बताने के लिए अभेद दृष्टि ही प्रयोजनभूत है। अत वह उनके लिए भूतार्थ है। जो लोग भूतार्थ का अर्थ सत्य और अभूतार्थ का अर्थ असत्य करते हैं वे ग्रंथ के हार्द को बिना समझे ही ऐसा करते है। कम से कम कुन्दकुन्द की दृष्टि में तो भूतार्थ अभूतार्थ का अर्थ सत्य और असत्य नही है। उसके लिए एक तर्क तो यह है कि यदि कुन्दकुन्द को उक्त दोनो अर्थ स्वीकृत होते तो भूतार्थ अभूतार्थ शब्दो का प्रयोग न कर वे सत्यार्थ और असत्यार्थ शब्दो का ही सीधा प्रयोग करते। अभीष्ट और स्पष्टार्थ बताने वाले शब्दो का प्रयोग न कर, अन्य शब्दो का प्रयोग करना, आ० कुन्दकुन्द जैसे युग-प्रधान पुरुष से आशा नही की जा सकती। हां कदाचित् छन्दशास्त्र के अनुसार स्पष्ट अर्थ वाले शब्दो का प्रयोग किसी प्रकार न हो पाता हो तो कवि पर्यायवाची शब्दो का भी प्रयोग करता है। पर हम देखते हैं कि कुन्दकुन्द की भूतार्थ अभूतार्थ वाली गाथा मे सत्यार्थ असत्यार्थ शब्द भी ज्यो के त्यो जुड़ जाते हैं। यहा दोनो गाथाओ को तुलनात्मक दृष्टि से पाठको के विचारार्थ देते हैं—कुन्दकुन्द की मूल गाथा निम्न प्रकार है—

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो॥

यह गाथा इस प्रकार भी बन सकती थी—

ववहारोऽसच्चत्थो सच्चत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
सच्चत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो।

इस दूसरी गाथा मे कुन्दकुन्द का असत्यार्थ रूप अभिप्राय और भी सरलता

पहली टीका दशवीं शताब्दि के विद्वान् आचार्य अमृतचन्द्र ने 'आत्मख्याति' नाम से लिखी है जो अत्यंत गंभीर और प्रौढ़ संस्कृत रचनायें हैं। उनके बाद आचार्य जयसेन ने संभवतः १५-१६ वीं शताब्दी में तात्पर्य टीका लिखी है जो अपेक्षाकृत सरल है ये दो टीकायें जहाँ ग्रंथ के विषय अभिप्राय को प्रस्तुत करती हैं। वहाँ डा० शास्त्री ने इनके आधार पर नये तथ्यों को खोजकर आ० कुन्दकुन्द के अन्तस्तल तक पहुँचने का नया तथा समुचित प्रयत्न किया है। कुन्दकुन्द द्वारा ग्रंथ प्रतिपादन का आधार उनकी निश्चय दृष्टि और व्यवहार दृष्टि रहा है जो परस्पर सापेक्ष है। इन दोनों दृष्टियों का डा० शास्त्री ने तथ्य और सत्य दृष्टि का रूप देकर बड़ा ही सुन्दर और हृदयग्राही विवेचन किया है। इस प्रकार और भी ऐसे विषय हैं जिन्हें पढ़कर अध्येता और अनुसंधाता प्रसन्न होंगे

प्रस्तुत ग्रंथ में कुन्दकुन्द के व्यक्तित्व तथा युग पर भी विस्तार से विचार किया गया है। इसके साथ ही कुन्दकुन्द के सभी ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय देते हुए आत्मा के संबंध में कुन्दकुन्द के मत का सांगोपांग निरूपण किया गया है। आधुनिक अनुसंधान की सभी अपेक्षाओं की इसमें भलीभाँति पूर्ति की गई है।

इस ग्रंथ के लेखक डा० लाल बहादुर जी शास्त्री से मेरा बहुत पुराना परिचय है। यह भी एक सौभाग्य की बात है कि भारत की राजधानी दिल्ली में स्वर्गीय प्रधानमंत्री श्री लाल बहादुर शास्त्री जी के नाम से चलने वाले संस्कृत विद्यापीठ में आप अध्यापन कार्य करते हैं। आचार्य कक्षाओं तक साहित्य शास्त्र का अध्यापन करने के साथ ही आप विद्यापीठ के जैन दर्शन संबंधी अध्ययन-अध्यापन तथा शोध के क्षेत्र में छात्रों का मार्ग दर्शन करते हैं। इनके मार्ग निर्देशन में कई शोध छात्रों को वाचस्पति की उपाधि भी मिल चुकी है। श्रीयुत शास्त्री जी उच्च कोटि के विद्वान तथा सफल शिक्षक एवं शोध प्रेरक हैं। उनका व्यक्तित्व स्नातकों को बहुत प्रभावित करता है और विद्या के साथ-साथ उनकी समाजसेवा और परोपकार भावना विशेष रूप से श्लाघ्य है।

इस ग्रंथ में आपके अध्ययन व अनुभव का सार निहित है आशा है आपकी लेखनी से भविष्य में और और अच्छी कृतियों का सृजन होगा। कुन्दकुन्द और "समयसार" नामक इस बहुमूल्य ग्रंथ के प्रणयन व प्रकाशन के लिए मैं शास्त्री जी को साधुवाद देता हूँ। आशा है जैन-धर्म व दर्शन के विद्वान तथा अध्येतागण इस ग्रंथ से समुचित लाभ उठायेंगे।

डा० मण्डन मिश्र
प्राचार्य—श्री ला ब शा केन्द्रीय
संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली

अभूतार्थं । तथा हि आत्मन नारकादि पर्यायेण अनुभूयमानताया अन्यत्व भूतार्थमपि सर्वत अपि अस्खलत्तं एक आत्मस्वभाव उपेत्य अनुभूयमानताया अभूतार्थम् ।"

अर्थ—जैसे जल मे निमग्न कमलिनी पत्र की जल से स्पृष्ट पर्याय भूतार्थ है तो भी सर्वथा जल से स्पर्श न होने योग्य उसके स्वभाव का अनुभव किया जाय तो वह अभूतार्थ है।

इसी प्रकार आत्मा की अनादिकालीन बद्धस्पृष्ट पर्याय को लेकर आत्मा का अनुभव किया जाय तो वह भूतार्थ है, तो भी सर्वथा पुद्गल से स्पर्श न होने योग्य आत्मस्वभाव का अनुभव करने पर वह अभूतार्थ है।

अथवा जैसे मिट्टी की स्थास कोश कुशुल घट आदि आकृति रूप पर्यायो का अनुभव किया जाय तो मिट्टी से भिन्नपना उन पर्यायो का भूतार्थ है फिर भी मिट्टी के एक नित्य स्वभाव (मृत्तिका रूप) का अनुभव करने पर उनका भिन्नपना अभूतार्थ है। उसी प्रकार आत्मा का नरकादि पर्यायो मे उनभव किया जाय तो उनका भिन्नत्व भूतार्थ है किन्तु सर्वथा न च्युत होने वाले एक आत्मस्वभाव को लेकर अनुभव किया जाय तो वह सब अभूतार्थ है।

उक्त दृष्टान्तो से यह स्पष्ट है कि द्रव्य की पर्यायो को प्रधान करके देखा जाय तो वे सब पर्यायें भूतार्थ है जो व्यवहार नय का विषय है, और यदि उन पर्यायो को अप्रधान कर द्रव्य स्वभाव की अपेक्षा से विचार किया जाय तो वे पर्याये अभूतार्थ है जो निश्चय नयका विषय है। ऐसी स्थिति मे व्यवहार नय भी कथचिद्भूतार्थ है। ऊपर जो दो दृष्टान्त दिए है उनमे दो द्रव्यो की स्पृष्ट पर्याय को भी भूतार्थ माना है और एक ही द्रव्य की नाना पर्यायो को भी भूतार्थ माना है। पहला उदाहरण दो द्रव्यो (बिसनी पत्र और जल) का है। दूसरा उदाहरण एक ही द्रव्य (मिट्टी) का है। लेकिन द्रव्य स्वभाव की दृष्टि से उक्त पर्याये अभूतार्थ हो जाती है।

सार यह है कि दृष्टि भेद से ही हम किसी को भूतार्थ या अभूतार्थ कह सकते है, सर्वथा नही। व्यवहार और निश्चय दोनो का परस्पर विरुद्ध विषय है अत व्यवहार नय जब निश्चय नय से प्रतिषिद्ध होता है तब अभूतार्थ है, जैसा कि आचार्य कुन्द कुन्द ने स्वय कहा है

एव ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेन ।
णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावति णिव्वाण ॥२७२॥

इस तरह निश्चय नय के द्वारा व्यवहार प्रतिषिद्ध है। उस निश्चय नय के आश्रित भूत विज्ञानघन निज आत्म स्वभाव मे लीन होकर मुनि निर्वाण को प्राप्त करते है।

लेकिन जब व्यवहार दृष्टि प्रधान होती है तो उस समय निश्चय दृष्टि भी प्रति-

तथा स्पष्टता से प्रकट हो सकता था और आ० कुन्दकुन्द को इसमें छन्द की दृष्टि से भी कोई कठिनाई नहीं थी। फिर भी उन्होंने भूयत्थो और अभूयत्थो शब्दों का प्रयोग प्रधान और अप्रधान दृष्टि को रखकर ठीक किया है।

दूसरे अभी यह कहना भी सन्दिग्ध है कि आचार्य कुन्दकुन्द का अभिप्राय इस गाथा द्वारा व्यवहार को अभूतार्थ और निश्चय को भूतार्थ बताना है। क्योंकि इन गाथाओं की तात्पर्यवृत्ति टीका के कर्ता आचार्य जयसेन ने उक्त गाथा का इस प्रकार अर्थ किया है —

व्यवहारनय भूतार्थ और अभूतार्थ है तथा शुद्धनय भी भूतार्थ और अभूतार्थ है। इनमें जो भूतार्थ का आश्रय लेता है। वह सम्यग्दृष्टि है।

अतः इस अर्थ के द्वारा कुन्दकुन्द व्यवहार को भूतार्थ भी कहना चाहते हैं और निश्चयनय को अभूतार्थ भी कहना चाहते हों।

उनका अभिप्राय आगे की गाथाओं से भी सिद्ध होता है। वे लिखते हैं—

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्ण पावं च।
आसव संवर णिज्जर बंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥

समयसार गाथा—नं० १५

अर्थ भूतार्थ रूप से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा बन्ध मोक्ष को सम्यक्त्व कहते हैं। अर्थात् व्यवहार भूतार्थनय से जीवाजीवादि पदार्थों को जानना सम्यग्दर्शन है।

इसमें स्पष्ट नव जीवादि तत्वों को भूतार्थ रूप से जानने की प्रेरणा की गई है। प्रश्न यह है कि जब भूतार्थ नय अर्थात् निश्चय नय से आस्रव बंध संवर निर्जरा कुछ है ही नहीं, तब इन्हें भूतार्थ नय से जानने की बात क्या कही गई है। क्योंकि आत्मा में बंध अबंध की बातें मात्र व्यवहार नय से हैं और व्यवहार नय अभूतार्थ है तो इन्हें भूतार्थ नय से जानने की बात क्यों कही गई है। इससे सिद्ध होता है व्यवहार नय भी भूतार्थ है। यहां हम अमृतचन्द्र की आत्मख्याति टीका के कुछ उद्धरण देते हैं जिससे यह सिद्ध हो कि व्यवहार नय भी कथंचित् भूतार्थ है।

यथा खलु बिसिनीपत्रस्य सलिलनिमग्नस्य सलिलस्पृष्टत्वपर्यायेण अनुभूयमानतायां सलिलस्पृष्टत्वं भूतार्थमपि एकान्ततः सलिलास्पृश्यं बिसिनीपत्रस्वभावमुपेत्य अनुभूयमानतायां अभूतार्थम् तथा आत्मनः अनादिबद्धस्पृष्टत्व पर्यायेण अनुभूयमान, तायां बद्धस्पृष्टत्वं भूतार्थं अपि एकान्ततः पुद्गलास्पृश्यं आत्मस्वभावं उपेत्य अनुभूयमानतायां अभूतार्थम्।

यथा च मृत्तिकायाः करककरीरकर्करीकपालादि पर्यायेण अनुभूयमानतायां अन्यत्वं भूतार्थं अपि सर्वतः अपि अस्खलन्तं एकं मृत्तिका स्वभावं उपेत्य अनुभूयमानतायां

ऊपर के कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि निश्चय सर्वथा भूतार्थ-सत्यार्थ होता तो आचार्य उसे पक्षपात न कहते। किन्तु व्यवहार की तरह जब वे निश्चय को भी पक्षपात कहते है तब उनकी दृष्टि मे दोनो नय समान हो जाते है। अत सबका निष्कर्ष यह है कि अभेद दृष्टि मे भेद दृष्टि प्रतिपिद्ध रहती हे अत. वह अभूतार्थ हो जाती है और भेद दृष्टि मे अभेद दृष्टि प्रतिपिद्ध हो जाती है अतः वह भी अभूतार्थ है। समयसार मे कुन्दकुन्द की दृष्टि एक और पृथक् आत्मा को दिखाना है अत वे द्रव्यकर्म' भावकर्म और नोकर्म से बिल्कुल अलग अपने आप मे एक ज्ञान दर्शन स्वरूप से अपृथक् आत्मा को देखना ही भूतार्थ बताते हैं। इसलिये वे आत्मा मे सभी प्रकार के अध्यवसानो का निपेध करते हैं। अध्यवसानो का ही नही बल्कि आत्मा के साथ अभिन्नता रखने वाले सहज ज्ञान दर्शन का भी निपेध करते हैं। इससे कोई ज्ञानदर्शन को भी अभूतार्थ असत्य समझने लगे तो यह समझने वाले की बुद्धि का ही दोप हो सकता है। आचार्य कुन्द-कुन्द का नही, उक्त 272वी गाथा मे यह भी लिखा हे कि "निश्चय नय का आश्रय लेकर मुनि निर्वाण प्राप्त करते हैं" उसका भी मतलब यही है कि जब तक मुनि उस अभेद अर्थात् निर्विकल्प दशा मे नही पहुचेगा तब तक वह मुक्त नही हो सकता लेकिन (जब) इस निर्विकल्प दशा तक पहुचने के लिए उसे भेद अर्थात् विकल्प दिशा को प्राप्त करना ही होगा। अपने इसी अभिप्राय को उन्होने गाथा 72 मे निम्न प्रकार प्रकट किया है।

"सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरसीहिं
ववहार देसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठियाभावे

जो परमभाव को देखने वाले है उन्हे शुद्ध तत्व का उपदेश करने वाला शुद्ध नय ग्रहण करना चाहिये और जो अपरम भाव मे स्थित नही है उन्हे व्यवहार का उपदेश ही कार्यकारी है।

इस तरह आचार्य कुन्द-कुन्द ने अपने कथन को बडी ही सतुलित दृष्टि से प्रतिपादित किया है। व्यवहार दृष्टि का निपेध नही किया किन्तु उसे गौण रखा है, यदि व्यवहार दृष्टि का निपेध किया होता तो कुन्दकुन्द के विशेप व्याख्याकार आचार्य अमृतचन्द दोनो नयो को न छोडने की बात न कहते, जैसा कि गाथा 12 मे उनने निम्न श्लोक मे प्रकट है—

जइ जिणमय पवज्जह तो मा ववहार णिच्चए मुयअ।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थ अण्णेण उण तच्च॥

यदि जिनेन्द्र भगवान के मत में दीक्षित होना चाहते तो व्यवहार और निश्चय को मत छोडो, क्योकि व्यवहार नय के परित्याग मे तीर्थ प्रवृत्ति नष्ट हो जायगी और निश्चय नय के परित्याग मे तत्व का स्वरूप नष्ट हो जायगा।

लिद्ध समझना चाहिए। नय तो वस्तु के अंश हैं पूर्ण वस्तु नहीं है। यदि व्यवहार—नय वस्तु के किसी एक अंश को बताता है तो निश्चय नय भी वस्तु के एक ही अंश को बताने वाला है। व्यवहार भेदांश को ग्रहण करता है और निश्चय अभेदांश को ग्रहण करता है। किन्तु वस्तु भेदाभेदात्मक है।

वास्तव में तो दोनों ही नय वस्तु के प्रति पक्षपात हैं। वस्तु को समझने के लिये दोनों नयों का पक्षपात आवश्यक है। समझने के बाद वस्तु का आनन्द लेने के लिए किसी भी पक्षपात की आवश्यकता नहीं है। आ० कुन्दकुन्द इसी तथ्य को इस प्रकार प्रकट करते हैं।

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं ॥१४१॥
कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥१४२॥
दोण्हं वि णयाण भणियं जाणइ णवरिं तु समयपडिबद्धो
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो ॥१४

अर्थ—व्यवहार नय कहता है कि जीव में कर्म बद्ध और स्पृष्ट है शुद्ध नय कहता है कि जीव में कर्म बद्ध-स्पृष्ट नहीं है। तथ्य यह है—कर्म जीव में बद्ध हैं या अबद्ध हैं यह दोनों ही नय पक्ष हैं। समयसार तो इन दोनों ही पक्षों से रहित है। इसलिए समय से प्रतिबद्ध आत्मा दोनों ही नयों के कथन को जानता है पर किसी भी नय पक्ष को वहीं ग्रहण नहीं करता क्योंकि वह स्वयं नय पक्ष से रहित है।

उक्त तीनों गाथाओं में व्यवहार नय और निश्चय नय दोनों को पक्षपात कहकर एक ही कोटि में रखा है। ऐसा नहीं है कि व्यवहार नय तो पक्षपात है और निश्चय नय वास्तविक है। इस कथन से भी यही प्रमाणित होता है कि अपने विषय के प्रतिपादन में सापेक्षता को लेकर चलना ही नय भूतार्थ हैं और निरपेक्ष दशा में दोनों ही अभूतार्थ हैं।

इन गाथाओं पर आचार्य अमृतचन्द्र ने अनेक कलशों की रचना की है। उदाहरण के लिए उनमें से हम यहाँ एक कलश देते हैं

एकस्य बद्धो न तथा परस्य
चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात—
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७०॥

एक नय कहता है आत्मा कर्मों से बद्ध है दूसरा नय कहता है आत्मा कर्मों से बद्ध नहीं है। ये दोनों ही चैतन्य रूप आत्मा में पक्षपात है। जो तत्त्वज्ञानी हैं और पक्षपात से शून्य हैं उनके लिए आत्मा चिद् सामान्य वस्तु है।

भावो को व्यवहार दृष्टि से जीव के भाव बतलाये है। और आगे की गाथाओ मे दृष्टात देकर अपने कथन का दृढीकरण किया है।

पुन गाथा 50 से 55 तक वर्ण, रस, गन्ध, राग द्वेप उदयस्थान, योगस्थान, गुणस्थान मार्गणा आदि का जीव मे निषेध किया है। परन्तु 56 वी गाथा मे लिखते हैं कि वर्ण आदि से लेकर **गुणस्थान पर्यंत भाव व्यवहार नय से हैं। निश्चय नय से नहीं है।** 60 वी गाथा मे भी इसी अभिप्राय को पुन दुहराया है।

कर्तृकर्म अधिकार मे आत्मा के परद्रव्य के कर्तृत्व का निषेध किया है किन्तु 84 वी गाथा मे लिखा है व्यवहार नय की दृष्टि से आत्मा अनेक प्रकार के पुद्गल आदि कर्मो को करता है। और उन्ही कर्मो का वेदन करता है। अर्थात भोक्ता है।

आगे चलकर पुन वे अकर्तृत्व का प्रतिपादन करते है। और भाव्य भावक ज्ञेय ज्ञायक भाव का विश्लेषण करते हुये लिखते है **व्यवहार नय से आत्मा घट, पट,** रथ आदि द्रव्यो को करता है। स्पर्शन आदि पच इन्द्रियो का करता है ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मो का तथा क्रोधादि भावकर्मो को करता है।

इस तरह व्यवहार दृष्टि देकर पुन निश्चय दृष्टि पर आ जाते हैं। और कहते हैं कि जीव न घट बनाता है न पट बनाता है न अन्य शेप द्रव्यो को करता है। जीव के योग उपयोग ही उक्त वस्तुओ को बनाते है लेकिन पुन व्यवहार दृष्टि की ओर सकेत करते हुये कहते है —

आत्मा पुद्गल द्रव्य को व्यवहार नय से उत्पन्न करता है, बनाता है, परिणमाता है, ग्रहण करता है।

इस तरह दोनो नयो का यथा स्थान सकेत देते हुये आचार्य कुन्दकुन्द शिष्य के द्वारा प्रश्न उठाते हैं तब आत्मा कर्मो से बद्धस्पृष्ट है या अबद्धस्पृष्ट है इस सम्बन्ध मे वास्तविक स्थिति समझाइये इसका उत्तर कुन्दकुन्द निम्न प्रकार देते है —

हमने जो यह कहा है कि व्यवहार नय से जीव कर्म से बद्धस्पृष्ट है और शुद्ध नय से बद्धस्पृष्ट नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि जीव मे **कर्मो की बद्धपृष्टता या अबद्धस्पृष्टता ये दोनो ही नय पक्षपात हैं। समयसार (शुद्धात्मा) तो इन दोनों पक्षों मे रहित है।**

आचार्य अमृतचन्द्र जी ने इसी गाथा को अपने कलश श्लोक मे इस प्रकार स्पष्ट किया है।

"य एव मुक्त्वा नयपक्षपात स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम्
विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त एव साक्षादमृत पिबन्ति"

जो नयो के पक्षपात को छोडकर अपने आत्म स्वरूप मे लीन रहते है वे सभी विकल्प जालों से रहित शात चित्त होकर साक्षात् अमृत पान करते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र की स्थिति आचार्य कुन्दकुन्द की छाया के समान है। कुन्दकुन्द जो कुछ कहना चाहते हैं। अमृतचन्द्र आचार्य उसको कलश श्लोकों में बिल्कुल स्पष्ट कर देते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द की सन्तुलित दृष्टि

यह सही है कि विभक्त और अपने आप में अन्त आत्मा का वर्णन करने के लिए आचार्य कुन्दकुन्द ने निश्चय दृष्टि को प्रधान रखा है। पर व्यवहार दृष्टि को उन्होंने भुलाया नहीं है। प्रत्युत बीच बीच में व विषय को समझाने के लिए व्यवहार दृष्टि का भी कथन करते गये हैं। यहां हम कुछ उदाहरण देंगे जिनसे पाठक यह समझ सकेंगे कि कुन्दकुन्द अपने कथन के लिए सदा सापेक्ष रहे हैं निरपेक्ष नहीं।

गाथा नं० 6 में कुन्दकुन्द कहते हैं कि यह आत्मा न प्रमत्त है न अप्रमत्त है शुद्ध ज्ञायक है। यहां तक कि आत्मा में ज्ञान दर्शन चरित्र भी नहीं है। किन्तु आगे सातवीं गाथा में कहते हैं आत्मा में ज्ञान दर्शन चरित्र व्यवहार नय से है। निश्चय से न ज्ञान है न दर्शन है। गाथा नं० 8 में लिखते हैं कि बिना व्यवहार के परमार्थ का उपदेश नहीं है।

गाथा नं० 9 10 में कहा है जो श्रुत से आत्मा को जाने वह परमार्थ से श्रुतकेवली है। जो समस्त श्रुत को जाने वह (व्यवहार नय) श्रुतकेवली है। 12 वीं गाथा में लिखा है परमभाव में जो स्थित है उनको शुद्ध नय का उपदेश है। और जो अपरम भाव में स्थित है उनको व्यवहार का उपदेश है।

इसी गाथा के अन्तर्गत अमृतचन्द्र आचार्य ने दो कलश श्लोक दिये हैं जिनका आशय है यदि जिनेन्द्र के मत में दाखिल होना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों को मत छोड़ो। व्यवहार के बिना तीर्थ नष्ट हो जायगा और निश्चय के बिना तत्त्व नष्ट हो जायगा।

ऐसा नयों के विरोध को दूर करने वाले स्याद्वाद से अंकित जिनेन्द्र भगवान के वचनों में जो रमण करते हैं वे शीघ्र ही उस समयसार ज्योति को देखते हैं जो सनातन है और किसी नय पक्ष से क्षुण्ण नहीं है।

गाथा 14 से लेकर पुन शुद्ध नय की प्रधानता से कथन है और लिखा है कर्म नो कर्म (शरीर) आदि सबसे पृथक यह आत्मा है। किन्तु गाथा नं० 27 में व्यवहार का समर्थन करते हुए लिखते हैं कि व्यवहार नय का अपना जीव और शरीर एक है किंतु निश्चय नय से वे कभी एक नहीं है।

इसके बाद आचार्य ने अध्यवसान आदि भावों को पुद्गल बताया है। किन्तु गाथा 46 में वे पुन व्यवहार दृष्टि देते हुए लिखते हैं भगवान जिनेन्द्र ने अध्यवसानादि

कार अमृतचन्द्र निश्चयप्रधान कथन का सहारा लेते हुए भी अपनी सतुलित दृष्टि को नही छोडते ।

यही कारण है कि निश्चय का व्याख्यान करते हुए भी व्यवहार दृष्टि को भी कहना चाहते है । आचार्य अमृतचन्द्र ने तो अपनी इस सतुलित दृष्टि के लिये स्याद्वाद अधिकार मे उपाय और उपेय भाव का चिन्तन किया है । जिसमे उपाय को व्यवहार और निश्चय को उपेय माना है । अर्थात् दोनो मे साधन साध्य भाव माना है । व्यवहार को भेद रत्नत्रय कह कर उसे अभेद रत्नत्रय निश्चय का साधन माना है और अभेद रत्नमय को साध्य माना है । यह अधिकार उन्हे एकान्त के विरोध मे स्याद्वाद के लिए लिखना पडा है ।[1]

आचार्य कुन्दकुन्द ने मङ्गलाचरण मे समयसार को कहने की प्रतिज्ञा की है और समयसार का उद्भव श्रुत केवली से बताया है । यद्यपि टीकाकारो ने श्रुत केवली का अर्थ श्रुत और केवली दोनो के द्वारा कहा हुआ भी बतलाया है । पर वस्तुत कुन्द-कुन्द का समयसार को श्रुत केवली कथित कहने से अभिप्राय विशेष रहा है । शास्त्रो मे केवली अरिहत को अर्थकर्ता बताया है और गणधर श्रुत केवली को ग्रन्थकर्ता बताया है । इसका सीधा अर्थ यह है कि केवली मात्र वस्तु का प्ररूपण करते है । किंतु गणधर उसमे स्याद्वाद का पुट देकर उसे श्रुत का रूप देते है । श्रुत शब्द का अर्थ ही 'सुना हुआ' है । चूंकि गणधर इसे केवली तीर्थङ्कर के मुख से सुनते है और सुनने के बाद जब उसे ग्रथित करते है वह श्रुत का रूप ले लेता है क्योकि वह सुना हुआ है । अत गणधर श्रुत केवली की रचना नयप्रधान होती है । जैसा कि आचार्य अमृतचन्द्र के "उभयनयायत्ता हि पारमेश्वरी देशना" इस वाक्य से स्पष्ट है, अर्थात् परमेश्वर द्वारा उपदिष्ट श्रुत व्यवहार और निश्चय दोनो नयो को लेकर होता है । चूंकि प्रस्तुत ग्रन्थ समयसार किसी एक नय को प्रधान करके लिखा जा रहा है अत नय प्रधान कथन की प्रमाणिकता श्रुत के आधार पर ही हो सकती है और श्रुत केवली कथित होता है । इसलिये कुन्दकुन्द भी समयसार को श्रुत केवली कथित बताते है । शास्त्रो मे केवली के ज्ञान को प्रमाणज्ञान बताया है क्योकि वह यथार्थ की अनन्त गुण पर्यायो को युगपत देखता है किन्तु क्रमिक ज्ञान स्याद्वाद से सस्कृत होकर ही प्रमाणभूत होता है । इस तरह हम देखते हैं कि आ० कुन्दकुन्द ने समयसार की परम्परा को जो श्रुत केवली से जोडा है वह विशेष अभिप्राय से खाली नही है ।

इस प्रकार ग्रन्थ के अन्दर मैंने जितनी गहराई से झाका मेरे सामने ग्रन्थ का हार्द स्पष्ट होता गया और तब मैं इस निर्णय पर पहुचा कि आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार का प्रणयन कर एक अद्भुत और अभूतपूर्व काम किया है ।

---

[1] अत्र स्याद्वाद शुद्ध्यर्थं वस्तुतत्वव्यवस्थिति
उपायोपेयभावश्च मनाग् भूयोऽपि चिन्त्यते

आचार्य अमृतचन्द्र ने इस कलश के बाद अपने कथन के समर्थन में 20 कलशों की रचना की है। जिनमें नित्य अनित्य मूर्त अमूर्त एक अनेक आदि परस्पर विरोधी धर्मों के प्रतिपादक व्यवहार और निश्चय का पक्षपात बतलाया है और लिखा है जो तत्त्वज्ञानी है वह इन दोनों पक्षपातों से रहित होकर चित् सामान्य को ही ग्रहण करता है।

आचार्य कुन्द कुन्द की मूलगाथाओं में यह विषय प्रतिपादित है जैसे —

दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ णवरि तु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो ॥१४॥

शुद्ध आत्म स्वरूप में लीन रहने वाला पुरुष दोनों नय के विषय को जानता है पर दोनों नयों के पक्ष को ग्रहण नहीं करता क्योंकि वह नयपक्ष से रहित है।

आगे की गाथा में इसी का पुनः समर्थन किया है और कहा है कि समयसार दोनों पक्षपातों से रहित है।

इस तरह उक्त दोनों आचार्यों ने निश्चय और व्यवहार को समान कोटि में ला दिया है यदि व्यवहार नय एक पक्ष है तो निश्चय नय भी वैसा ही दूसरा पक्ष है आत्म स्वरूप में लीन होने के लिए दोनों पक्षों की आवश्यकता नहीं है किन्तु वस्तु को समझने तक ही दोनों नयों के पक्षपात की आवश्यकता होती है।

कर्तृकर्म अधिकार में जहाँ यह लिखा है कि एक द्रव्य अन्य द्रव्य का कर्ता नहीं है वहीं आगे चलकर परद्रव्य का कर्ता भी मानते हैं। वे लिखते हैं सम्यक्त्व को रोकने वाला मिथ्यात्व कर्म है उसके उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि होता है। गा० 161 बंधाधिकार में वे लिखते हैं कि ज्ञानी पुरुष स्वयं रागादि रूप परिणमन नहीं करता किन्तु पर के निमित्त से वह रागादि रूप परिणमन करता है जैसे स्फटिक मणि जपा पुष्प आदि से लाल होता है स्वयं लाल नहीं होती।

मोक्षाधिकार गाथा 306 में लिखा है प्रतिक्रमण प्रतिसरण परिहार धारणा निवृत्ति निन्दा गर्हा और शुद्धि यह आठ प्रकार विष कुम्भ है किन्तु सर्वविशुद्ध अधिकार में लिखा है पूर्वकृत अनेक प्रकार के जो शुभ अशुभ कर्म हैं उनसे अपने आप को निवृत्त करना प्रतिक्रमण है। आचार्य अमृतचन्द्र इससे भी आगे बढ़कर लिखते हैं जहाँ प्रतिक्रमण को ही विष कहा है वहाँ अप्रतिक्रमण अमृत कैसे हो सकता है इसलिए यह जीव प्रमाद से नीचे-नीचे क्यों गिरता है। प्रमाद रहित होकर ऊपर क्यों नहीं चढ़ता। इसी सर्व विशुद्ध अधिकार में एक ओर तो कुन्दकुन्द मुनिलिंग और गृहीलिंग दोनों को मोक्ष मार्ग होने का निषेध करते हैं और दूसरी ओर लिखते हैं कि व्यवहार नय से दोनों लिंग मोक्षमार्ग हैं किन्तु निश्चय नय [illegible] मोक्ष [illegible] में नहीं चाहता इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द और उनके प्रमुख टीका

दानशीला श्री भवरीदेवी पांड्या
धर्मपत्नी स्व० सेठ चादमल जी पाड्या
सुजानगढ (राज०)

यद्यपि दिगम्बर जैन परम्परा में और भी शुद्ध अध्यात्म का वर्णन करने वाले ग्रन्थ हैं। पर कुन्दकुन्द का समयसार उन सब में प्राणभूत होकर रह रहा है। आचार्य पूज्यपाद का समाधिशतक या समाधितन्त्र अध्यात्म का अनूठा ग्रन्थ है पर वह समयसार के बाद की रचना है और समयसार के अध्ययन से प्रेरित होकर ही लिखा गया है।

आज से तीस पैंतीस वर्ष पहले समयसार के पढ़ने वाले बहुत कम थे फिर भी समयसार का अध्ययन कम अधिक रूप से समाज में सदा ही प्रचलित रहा है। यदि ऐसा न होता तो उस पर आ० अमृतचन्द्र आ० जयसेन पं० बनारसीदास पं० राजमल पं० जयचन्द्र जी छाबड़ा आदि की टीकाएँ न होतीं। आज के युग में भी कारंजा के स्व० भट्टारकजी पू० गणेशप्रसाद वर्णी आदि सन्तों ने समयसार का अच्छा अध्ययन किया था। आज यद्यपि समयसार के पढ़ने वाले बहुत हैं पर वस्तुतः वे प्रायः समयसार की पुस्तक को बगल में दबाकर चलने वाले हैं। उन्हें न पदार्थ का ज्ञान है न चारों अनुयोगों का यथावत् और सापेक्ष ज्ञान है। ऐसे व्यक्तियों के लिए समयसार अपने आप में विष है। स्वयं अमृतचन्द्र आचार्य ने भी ऐसे व्यक्तियों को लक्ष्य में रखकर लिखा है —

अत्यन्तनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम्
खण्डयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम्

जिनेन्द्र भगवान का नय रूपी चक्र अत्यन्त तेज धार वाला है अज्ञानी पुरुष के हाथ में पड़ जाने से वह उन्हीं का गला काटता है — दूसरे का नहीं। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि आज से ४०० वर्ष पूर्व पं० बनारसीदास जी की यही दशा हुई थी। उनके साथी पं० रूपचन्द पाण्डे आदि ने उन्हें बोध दिया। वे अपनी स्थिति को समझने लगे कि जिसे मैं समझा हूँ वह अध्यात्म नहीं है। अपनी इस दशा को उन्होंने निम्न शब्दों में प्रकट किया है —

करनी को रस मिट गयो, भयो न आतमस्वाद
भई बनारसि की दशा जथा ऊँट को पाद

अर्थात् समयसार पढ़कर मैंने पूजापाठ आदि सब क्रिया काण्ड छोड़ दिये अब उसका आनन्द तो जाता ही रहा किन्तु जिसके लिए छोड़ा था उस आत्मा का स्वाद भी नहीं मिला। इसलिए मुझ बनारसी की दशा ऊँट के पाद (न जमीन के न आसमान के) जैसी हो गई।

मे आपकी प्रबल इच्छा आरम्भ से ही रही है। अत आपने जयपुर इन्जानियरिंग कालेज का पोस्ट ग्रेज्यूएशन प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण किया है। आपके एक पुत्र तथा एक पुत्री है। श्री विमलकुमार आपका पुत्र है।

(३) श्री भागचन्दजी साहब आपके कनिष्ठ पुत्र है। इनका विवाह बेरी निवासी, गौहाटी प्रवासी श्रीमान् प्रेमसुखजी सेठी की सुपुत्री कुसुमदेवी के साथ हुआ। आप टेबलटेनीस तथा बिलीयर्डस के कुशल खिलाडी हैं। आपकी विशेष योग्यता के कारण आपके पास जगह-जगह से आमन्त्रण आते रहते है। आपकी सगीत मे भी विशेष रूप से रुचि है। आजकल आप व्यापार सचालन मे बडे भाइयो का सक्रिय साथ दे रहे हैं।

आपकी पाचो पुत्रिया सुन्दर तथा गृहकार्य मे निपुण हैं। सभी के विवाह सुसम्पन्न घरानो मे हुए हैं।

इस धार्मिक रुचि के कारण आप समय समय पर तीर्थ धामो की यात्रा अपने पति के साथ करती रहती थी। तीर्थ क्षेत्रो की सहायता करना एव आवश्यकताओ की पूर्ति करना आपका एक विशेष गुण है। मुनियो के दर्शनार्थ समय समय पर बाहर जाना तथा मुनियो को आहार देना तथा उनके सदुपदेशो को सुनना आपकी जीवन-चर्या का अनुपम अग है। आपने मुनिराज के सद् उपदेशो से प्रेरित होकर अपने पतिदेव के द्वारा मरसलगज मे पचकल्याणक प्रतिष्ठा करवाई और अपने चचल द्रव्य का सदुपयोग किया। शान्तिवीरनगर श्रीमहावीरजी एव गौहाटी के पचकल्याणको मे आपका सराहनीय योगदान रहा। आपके पतिदेव द्वारा शान्तिवीर नगर महावीर जी मे मानस्तभ की स्वीकारता दिलाने मे आप ही की सत् प्रेरणा रही, जो बनकर तैयार हो रहा है।

धर्म की लगन के कारण तथा अपने बच्चो मे धार्मिक सस्कार लाने के लिए सुजानगढ एव गौहाटी मे आपने अपने निवास स्थान पर चैत्यालयो का निर्माण करवाया है। इस धार्मिक रुचि के कारण अभी आप श्री 108 आचार्यकल्प मुनिराज श्रुतसागरजी के दर्शनार्थ भिंडर ग्राम गई थी। वहां की जैन समाज ने आपका हृदय से स्वागत किया। वास्तव मे यह सत्य ही है कि अपने पतिदेव को सच्चरित्र बनाने मे आपने चेलना जैसा कार्य किया था। सचमुच आज की महिला समाज के लिए यह अनुकरणीय है।

इससे पहले आप गजपथा तीर्थक्षेत्र और 108 आचार्य महावीर कीर्तिजी के दर्शनार्थ गयी थी। वहा पर आचार्य श्री के उपदेशो से प्रेरित होकर आपने आचार्य महावीर कीर्ति सरस्वती प्रकाशन माला की स्थापना की — जिसका प्रथम पुष्प 'श्री सम्मेदशिखर मण्डल विधान पूजा' के नाम से प्रकाशित हुआ है तथा दूसरा

श्रीमती दानशीला भवरीदेवी पाड्या

धर्मपत्नी स्वर्गीय सेठ चाँदमलजी पांड्या, सुजानगढ़

श्रीमती दानशीला श्री भवरीदेवीजी पाड्या गुरु भक्त शिरोमणि दानवीर सेठ स्व० चाँदमल सरावगी पाड्या सुजानगढ़ की धर्मपत्नी हैं। आप-जैन महिलादर्श पत्र की संरक्षिका हैं।

आपका जन्म मारवाड़ प्रान्त के अन्तर्गत मेनसर ग्राम में स्वर्गीय सेठ मन्नालालजी गंगवाल की धर्मपत्नी श्रीमती बालीदेवी की कुक्षि से हुआ। सच ही कहा है कि पुण्यात्मा जीव के घर आने ही लक्ष्मी स्वतः आने लगती है। पिता मन्नालालजी का चारों ओर से लाभ ही लाभ होने लगा। श्रीमान् मदनलालजी मालचन्दजी चम्पालालजी इन तीन भ्राताओं में आप मध्यवर्ती बहिन हैं। आप इकलौती होने के कारण घर में बहुत लाड़ प्यार से पाली गईं। 13 वर्ष की अवस्था में सुजानगढ़ निवासी स्वर्गीय सेठ मूलचन्दजी के पुत्ररत्न श्रीमान् बाबू चाँदमलजी पांड्या के साथ आपका शुभ पाणिग्रहण संस्कार दिनांक 1 मई 1931 को सानन्द सम्पन्न हुआ।

विवाह के पहले श्रीमान चाँदमलजी पांड्या की स्थिति आज जैसी नहीं थी। इस भाग्यशाली के आते ही चारों ओर से प्रकाश की किरणें प्रस्फुटित होने लगी और बाबू चाँदमलजी की ख्याति तथा यशोगान दिन दूना रात चौगुना बढ़ने लगा। आपके तीन पुत्ररत्न एवं पांच पुत्रियां तथा नाती पोतों का ठाठ है।

(1) श्रीमान गणपतरायजी साहब आपके ज्येष्ठ पुत्र हैं। उनका विवाह लाडनूं निवासी श्रीमान ताराचन्दजी पहाड़िया की सुपुत्री नवरत्नदेवी के साथ हुआ है। श्रीमान गणपतरायजी भी अपने पिता की तरह गुणवान एवं कुशल सामाजिक कार्यकर्ताओं में से एक हैं। इस समय आप व्यापारिक क्षेत्र में जुटे हुए हैं तथा अपने व्यापार की उन्नति के लिए संलग्न हैं। अभी हाल ही में आप व्यापारिक वस्तुओं का सफर जापान यात्रा पर गये थे साथ में अपने लघुभ्राता श्री भागचन्दजी एवं अपनी धर्मपत्नी को भी ले गये थे। आपके एक पुत्र तथा दो पुत्रियां हैं। आपके पुत्र का नाम श्री नरेन्द्रकुमार है।

(2) आपके मझले पुत्र श्री रतनलालजी हैं। इनका विवाह लाडनूं निवासी श्रीमान नथमलजी सेठी की सुपुत्री श्रीमती मनिन्द्रादेवी के साथ हुआ है। पिता के स्वर

पुरोवाक्

श्री डॉ० लालवहादुर शास्त्री कृत 'आ० कुन्दकुन्द और उनका समयसार' का अवलोकन कर अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हू। आचार्य जयसेन की व्याख्या के अनुसार समय का अर्थ 'आत्मा' है (सम्यग् अयः बोधो यस्य स')। इस आत्मतत्व का साङ्गोपाङ्ग विवेचन तत्कालीन युगप्रतिष्ठापक कुन्दकुन्द के समयसार का मुख्य प्रतिपाद्य विपय है। श्री लालवहादुर शास्त्री ने अपने इस पाण्डित्यपूर्ण शोध प्रवन्ध मे समयसार के इस सारतत्व का विवेचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर जिज्ञासुओ का महान् उपकार किया है।

अन्यान्य मतो के सम्वन्ध मे कही गई कुछ वातो के सम्वन्ध मे किसी की असहमति भी हो सकती है। किन्तु इतना अवश्य है कि इस ग्रन्थ के अवलोकन करने से जिज्ञासुओ को वैदिक परम्परा और श्रमण परम्परा की अच्छी जानकारी प्राप्त हो जायेगी।

इस स्तुत्य प्रयास के लिए श्री डॉ० लालवहादुर शास्त्री जी वस्तुत' वधाई के पात्र हैं।

(डा०) रामकरण शर्मा
कुलपति—कामेश्वर सिंह
दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा (बिहार)

समर्पण

जिन्होंने वैधव्य के असह्य दुःख को सहन करते
हुए भी अपने मातृतुल्य स्नेह का संरक्षण
देकर मुझे इस योग्य बनाया अपनी
उन्हीं त्यागमूर्ति ज्येष्ठ सहोदरा
पूज्य विदुषी श्री विद्यावती जैन
के कर कमलों में यह कृति
समर्पित करता हूँ।

विनम्र
लालबहादुर

निबन्ध में उपयुक्त ग्रंथों की सूची

ग्रंथ	विवरण
जैन शिलालेख संग्रह	प्रो० हीरालाल द्वारा संपादित माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बई
षटप्राभृत संग्रह	पं० पन्नालालजी सोनी द्वारा संपादित माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बई
श्रुतावतार	इन्द्रनन्दिकृत, मा० दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बई
श्रुतस्कंध	विबुध श्रीधरकृत मा० दि० जैन बम्बई
दशभक्त्यादि संग्रह	दोशी सखाराम नेमचन्द सोलापुर
गोम्मटसार जीवकांड	पं० खूबचन्द्रजी द्वारा संपादित परमश्रुत-प्रभावक मण्डल बम्बई
नियमसार	कुन्दकुन्दकृत, जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
परमात्मप्रकाश	ए० एन० उपाध्ये द्वारा संपादित परमश्रुत-प्रभावक मंडल बम्बई
पाहुड दोहा	प्रो० हीरालाल द्वारा संपादित, अंबादास चवरे ग्रन्थमाला कारंजा
महाभारत	
बनारसी विलास	नानूलाल स्मारक ग्रन्थमाला जयपुर
अध्यात्मकमलमार्तण्ड	वीरसेवा मंदिर सरसावा सहारनपुर
भाव संग्रह	ब्र० चांदमल चूडीवाल नागौर
समाधितन्त्र	वीरसेवा मंदिर दरियागंज दिल्ली
सर्वदर्शन संग्रह	माध्वाचार्य कृत, जीवानंद विद्यासागर द्वारा कलकत्ता मे प्रकाशित
सर्वदर्शन संग्रह	माध्वाचार्यकृत लक्ष्मी व्यंकटेश्वर मुद्रणालय मुंबई से प्रकाशित
पंचाध्यायी	पं० मक्खनलालजी द्वारा संपादित दि० जैन ग्रन्थमाला सूरत
कुरल काव्य	पं० गोविन्दरामजीशास्त्रीकृत संस्कृत रूपांतर जैनेन्द्र प्रेस ललितपुर
स्याद्वादमञ्जरी	परमश्रुतप्रभावक मण्डल, बम्बई

आचार्य कुन्द-कुन्द और उनका समयसार

डॉक्टर लालबहादुर शास्त्री एम० ए०

नयचक्र	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई
दव्वसहावपयाम	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई
प्रबोध सुधाकर	शकराचार्य, लक्ष्मीनारायण, पन्नालाल मुरादाबाद
षट्दर्शन समुच्चय	राजशेखर, यशोविजय ग्रन्थमाला
साम्यदर्शन	चौखम्भा संस्कृत सिरीज, बनारस
समयप्राभृत मूल	जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी सस्था, कलकत्ता
तत्वसग्रह	शान्तरक्षित गायकवाड सिरीज, बडोदा
तत्वार्थ श्लोकवार्तिक	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
बोधिनर्यावतार	बुद्ध विहार, लखनऊ
अध्यात्मरहस्य	वीर सेवा मदिर
तत्वानुशासन	वीरसेवा मदिर ट्रस्ट
जैन साहित्य और इतिहास	हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय बम्बई
आत्मानुशासन	जैन सस्कृति सरक्षक सघ, शोलापुर
वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ	वर्णी हरिक जयती सागर
ब्रह्म सूत्र शकरभाष्य	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

पुस्तक में उपयुक्त ग्रंथों की सूची

बृहद्द्रव्यसंग्रह	परमश्रुत प्रभावक मंडल
समयसार	
मूलाराधना	शिवकोटिकृत सखाराम नेमचन्द्र ग्रन्थमाला सोलापुर
दानसार हस्तलिखित	देवसेनकृत उदासीन आश्रम इंदौर
अभिधर्मकोष	मारग्रन्थ
भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध	कामताप्रसादजी द्वारा संपादित जैन विजय प्रिंटिंग प्रेस सूरत
संक्षिप्त जैन इतिहास	दि० जैन पुस्तकालय सूरत
छ ढाला	पं० दौलतराम जी कृत
अध्यात्मपद संग्रह	सर सेठ हुकमचन्दजी द्वारा प्रकाशित कांच का मंदिर दीतवारा इंदौर
भद्रबाहु चरित	उदयलालजी काशलीवाल द्वारा अनुदित जैन भारती भवन बनारस सिटी
कुन्दकुन्द प्राभृत संग्रह	जैन संस्कृति संरक्षक फंड सोलापुर
षट्खण्डागम	जैन साहित्योद्धार फंड अमरावती
कषायपाहुड	दि० जैन संघ चौरासी मथुरा
भगवद्गीता	बालगंगाधर तिलक
बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन	भरतसिंह उपाध्याय
वेदान्त दर्शन	गीता प्रेस, गोरखपुर
छान्दोग्योपनिषद्	गीता प्रेस गोरखपुर
श्वेताश्वतरोपनिषद्	गीता प्रेस गोरखपुर
ऐतरेयोपनिषद्	गीता प्रेस गोरखपुर
मुण्डकोपनिषद्	गीता प्रेस गोरखपुर
कठोपनिषद्	गीता प्रेस गोरखपुर
ईशावास्योपनिषद्	गीता प्रेस गोरखपुर
प्रश्नोपनिषद्	गीता प्रेस गोरखपुर
तैत्तिरीयोपनिषद्	गीता प्रेस, गोरखपुर
केनोपनिषद्	गीता प्रेस गोरखपुर
समयसार नाटक	बनारसीदास जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय
सांख्यकारिका	भार्गव पुस्तकालय गायघाट बनारस

चतुर्थ अध्याय

विषय-सूची

अष्टम अध्याय

पंचम अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

'एगो[1] मे सासदो आदा णाणदसणलक्खणो,
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे सजोगलक्खणा।'

और परमात्मा की ओर से चिन्तन करने वालो ने भी इसी की पुनरावृत्ति की—

'आत्मा[2] वा अरेद्रष्टव्य
श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासतव्य।' बृह० अ० २ ब्रा० ४ म० ५।

इस प्रकार दोनो ही आत्मा को अपनाने की बात कहते हैं। फलस्वरूप भारत का मौलिक धर्म एक होकर भी चिंतन की दो धाराओ मे बँटकर दो प्रकार का हो गया। उसमे आत्मा को आधार बनाकर चिन्तन करने वाले ऋषियो की परम्परा श्रमण परम्परा कहलायी और परमात्मा को आधार बनाकर चिन्तन करने वाले ऋषियो की परम्परा वैदिक परम्परा कहलाई। ये दो भारत की मूल परम्पराएँ थी जिन्होने ससार को अध्यात्म का सन्देश दिया।

महर्षि कुन्दकुन्द जिनका यहाँ परिचय दिया जा रहा हे वे श्रमण परम्परा के प्रमुख आचार्य थे। यद्यपि इस परपरा मे बडे-बडे आचार्य हुये। श्रमण भगवान महावीर के बाद उन आचार्यो की एक लम्बी पट्टावली मिलती है। उत्तरोत्तर ज्ञान की शिथिलता होने पर भी उनका पाण्डित्य असीम था, बौद्धिक बल असदिग्ध था, ध्यान और चिंतन मे अद्वितीय थे। फिर भी उनमे कोई ऐसा युग प्रतिष्ठापक नही हुआ जो चतुर्विध सघ के भार को अपने सबल कधो पर धारण कर एक व्यवस्थित परपरा को जन्म देता। भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् तीन केवली हुए और पाँच श्रुत केवली। इनमे पचम श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय दुर्भिक्ष का जो असाधारण दैवी प्रकोप हुआ उसमे सघ व्यवस्था ही छिन्न-भिन्न हो गई। त्याग के नाम पर स्वैराचार की वृद्धि हुई। मतभेद न केवल तदवस्थ रहे किन्तु बढ गये। अत युग की माग थी कि कोई महापुरुष इस अव्यवस्था को दूर कर एक सुदृढ और गठित परपरा को जन्म देता। परन्तु सैकडो वर्षो तक ज्ञान की अविछिन्न धारा चलने पर भी ऐसा कोई युग-पुरुष उत्पन्न नही हुआ जो इस मांग को पूरा करता। समय आया, आचार्य कुन्दकुन्द प्रादुर्भूत हुए। उनने अगाध ज्ञान से तात्कालिक समस्याओ पर उन्होने असदिग्ध लेखनी चलाई और जिज्ञासुओ के चित्त को सगत तथा सुसबद्ध समाधान दिया। उदाहरण के लिये साधुता के नाम पर जो केवल नग्न रहते थे किन्तु असाधुतापूर्ण आचरण करते थे। उनकी बडे ही ओजपूर्ण शब्दो मे कुन्दकुन्द ने भर्त्सना की है। वे लिखते हैं—

---

१ मैं एक शाश्वत आत्मा हूँ, ज्ञान दर्शन मेरा स्वरूप हे। इसके अतिरिक्त अन्य सभी भाव मेरे सयोगज हैं।

२ आत्मा को ही देखना चाहिये, सुनना चाहिये, मनन करना चाहिये और उसका ध्यान करना चाहिये।

प्रथम अध्याय

कुन्दकुन्द का परिचय और व्यक्तित्व

युगप्रतिष्ठापक कुन्दकुन्द—

भारतीय ऋषि परम्परा में अनेक प्रख्यात महर्षि हो गये हैं जिन्होंने अपने सतत चिन्तन मनन और निदिध्यासन से न केवल भारतीय वाङ्मय को समृद्ध किया है किन्तु हमारे व अन्य देशों को भी अनुप्राणित किया है। सांसारिक माया मोह से विरत होकर चिरसत्य की खोज में उन्हें जो कुछ आभास हुआ उसका आधार आत्मा और परमात्मा के फलस्वरूप दो प्रकार की विचार धारा सामने आई। पहली विचार धारा में आत्मा के अस्तित्व को मौलिक सत्य मानकर उसकी अनेक अवस्थाओं पर विचार किया गया और उसकी अन्तिम तथा पूर्ण विकसित दशा को परमात्मा मान लिया गया[1]। दूसरी विचारधारा में परमात्मा की सत्ता को वास्तविक सत्य[2] स्वीकार कर उससे भिन्न स्थावर जंगम जगत् को परमात्मा की प्रसूति माना गया और विभिन्न दृश्यमान आत्माओं को परमात्मा का ही प्रतिबिम्ब कहा गया। एक के अध्ययन की दिशा परमात्मा से आत्मा की ओर थी[3] तो दूसरे की आत्मा से परमात्मा की ओर थी। इस तरह दो विभिन्न दशाओं से प्रारम्भ होकर भी उनका चिन्तन क्षेत्र एक ही था। अतः दोनों से जो परमार्थ सत्य उद्भूत हुआ वह भी एक ही था। आत्मा की ओर से चिन्तन करने वालों ने कहा—

---

१ सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः सि० भक्ति पूज्यपाद।

२ ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या।

३ एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय छां० उ० ६ २ ,। हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् इत्यादि। ऋ० १०, १२१, ।

४ अहिंसोऽहम् ओएम् शुद्ध हम् हुवा अह सह्य कालाई लड्‌ए अपापरमप्पओ हवई।

को व्यवस्था दी[1], दुराग्रही की भर्त्सना की[2], पक्षपाती को समझाया[3] और अज्ञानी को मार्ग दिखाया[4]। इनके उपलब्ध 'पाहुड' ग्रन्थो मे प्राय. इसी प्रकार के कथन हैं अथवा यो कहना चाहिये कि उनके छोटे-छोटे पाहुड ग्रन्थो की रचनाएँ इसी प्रवृत्ति के परिणाम हैं। शताब्दियो से भूले भटके सशयालु अज्ञान ग्रस्त लोगो को कुन्दकुन्द ने जो मार्गदर्शन दिया वह उस समय की जनता के लिए अपूर्व था अत मोक्षमार्ग मे कुन्दकुन्द के नेतृत्व को अपनाना सभी के लिए सुलभ और आवश्यक हो गया था। उधर कुन्दकुन्द का पाण्डित्य, कथन शैली, आध्यात्मिक अनुभव एक दूसरे से बढ-चढकर थे।

जैन दर्शन मे सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चरित्र की एकरूपता को मोक्ष मार्ग बताया है। परन्तु यही तीन विषय ऐसे थे जिनमे जन-समुदाय को सशय विमोह और विभ्रम था। अब तक कोई लिखित रचना ऐसी नही थी जिनमे इनका सुसगत और विश्लेषण पूर्वक वर्णन होता। पहले से जो लिखित ग्रथ चले आ रहे थे वे षट्खण्डागम और उन पर कुछ टीकाएँ थी जिनका प्रकृत विषय से सीधा सम्बन्ध नही था। साक्षात् गणधर कथित या प्रत्येकबुद्ध कथित सूत्रग्रथो को जिनकी केवल मौखिक परपरा चली आ रही थी, सिद्धात ग्रथो के नाम तर गृहस्थो को पढने की अनुमति नही थी, श्रुत प्राय इतना विछिन्न और विस्मृत भी हो गया था कि सर्व-

---

१. व्यवस्था—णाणेण दंसणेण य तवेण चरियेण सजमगुणेण।
चउहिंपि समाजोगे मोक्खो जिण सासणो दिट्ठो ॥३॥ द० पा०
ज्ञान दर्शन तप और चरित्र रूप संयम गुण से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है ऐसा जिन शासन मे कहा है।

२ भर्त्सना—सम्मत्तचरणभट्टा सजमचरणं चरंति जे वि णरा।
अण्णाण णाणमूढा तह वि ण पावंति णिव्वाण ॥१०॥ चा० पा०
सम्यग्दर्शन मे भ्रष्ट होकर जो सयम का आचरण करते हैं वे अज्ञानी मूढ हैं। निर्वाण को प्राप्त नही कर सकते।

३ पक्षपात—णवि देहो वंदिज्जइ णवि य कुलोणवि य जाइ संजुत्तो।
को वंदइ गुण हीणो णहु सवणो णेव सावओ होई ॥
न देह वंद्य है, न कुल, न जाति। भला गुणहीन श्रमण हो या श्रावक उसे कौन वंदना करेगा।

४ मार्गदर्शन—तिहुयण सलिलं सयलं पीयं तण्हाये पीडियेण तुमे,
तो वि न तिण्हा छेदो जाओ चितेह भवमहण ॥२३॥ मो० पा०
हे आत्मन्! तृष्णा से पीडित होने पर तूने अगणित भवों में त्रिभुवन का सारा जल पी डाला तो भी तेरी प्यास नही मिटी। अत तू तृष्णाओं से चित्त हटाकर [illegible] [illegible] उपाय [illegible]।

णग्गो पावइ दुक्ख णग्गो संसार सायरे भमई ॥
णग्गो ण ल्हइ बोहिं जिण भावण वज्जिय सुइर ॥६८॥
अयसाणभायणेणय किं ते णग्गेण पावमलिणेण ।
पेसुण्ण हास मच्छर माया बहुलेण सवणेण ॥६६॥ मो० पा०

जिनेन्द्र भगवान के अनुरूप भावनाओं से रहित नग्न (साधु) दुःख उठाता हुआ संसार समुद्र में गोते खाता है उसे समीचीन ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। अरे साधु! पाप से मलिन अपयश के पात्र तेरे इस नग्न रहने से क्या प्रयोजन? जब तू पशून्य हास्य मत्सर और माया बहुलता का पुञ्ज है।

दूसरी ओर शारीरिक कष्टों से व्यथित होकर साधुता के बाह्य आधार नग्नत्व का जिन्होंने परित्याग कर दिया और बाह्य आडम्बरों में फँसकर भी साधुता का व्यामोह नहीं छोड़ सके उनके लिए कुन्दकुन्द बिना किसी हिचकिचाहट के स्पष्ट घोषणा करते हैं—

परमाणुपमाण वा मुच्छा देहादियेसु जस्स पुणो ।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागम धरावि[1] ॥
जे पचचेल सत्ता गथग्गाहीय जायणसीला ।
आधा कम्ममिरया ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ॥६६॥ मो० पा०

शरीर अथवा अन्य द्रव्यों में किंचित मात्र भी जिसका अपनापन है वह समस्त आगमों का ज्ञाता होकर भी मुक्ति को प्राप्त नहीं करता। जो पाँच प्रकार के वस्त्रों में से किसी भी प्रकार के वस्त्र को धारण करते हैं। धन धान्यादि परिग्रह में आसक्त हैं माँगते हैं तथा आरम्भादि करते हैं वे मोक्ष मार्ग से बहिष्कृत हैं।

इस प्रकार दोनों तरह के अयोग्य आचरणों का विरोध कर कुन्दकुन्द ने साधुता के लिए जो व्यवस्था दी वह इस प्रकार है—

णिग्गंथ मोहमुक्का बावीस परीसहा जिया जेहिं ।
पावारंभ विमुक्का ते गहिया मोक्ख मग्गम्मि ॥८०॥ मो० पा०

परिग्रह विहीन स्वजन परिजन की मोह ममता से रहित बाईस परिषहों को सहन करके कषायों के विजेता सब प्रकार के पाप और आरम्भ से रहित साधु ही मोक्ष मार्ग के अधिकारी हैं।

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द ने जहाँ कहीं मतभेद दुराग्रह पक्षपात या अज्ञानता देखी वहाँ अपने विचार निर्भीकता से प्रकट किए। मतभेदियों

---

1 प्रवचनसार ३, ३६ ।

गया। इस परिवर्तन के आ जाने से कुछ लोगो ने दूसरी समाजो की प्रथाओ और क्षेत्रीय व्यवस्थाओं को आत्मसात् कर लिया, कुछ ने आपद्धर्म समझकर बीच का मार्ग अपनाया और बाद मे जब उसके अभ्यस्त हो गए तो उसे शास्त्रीय मार्ग कहने मे भी संकोच न किया। कुछ जो अपनी व्यवस्था और प्रथा ले गये थे, उसी पर आस्था के साथ दृढ रहे। इस सबका परिणाम यह हुआ कि लोग पृथक्-पृथक् मान्यताओ मे बट गये और उनको सिद्ध करने के लिए शास्त्रीय आधार खोजने लगे। जिन साधुओ के आधार पर श्रुत की परम्परा एकरूप चली जाती थी, चूँकि उनकी पृथक्-पृथक् मान्याताएँ हो गई अत श्रुत की एकरूपता भी नष्ट हो गई। मनमाने नए अर्थ कर और उनमे अपने विचारो का पुट देकर निजी आचरणो को शास्त्रीय रूप दिया जाने लगा। पर इसका प्रभाव कुछ भी नही हुआ। सर्व साधारण का कहना था कि श्रुत का विच्छेद हो गया है। अत समाधान रूप मे कोई कथन प्रामाणिक नही माना जा सकता। फलत साधु सघ को श्रुत की शृखला जोडने की चिन्ता हुई जिसके आधार पर वे जनता को अपने समाधानो की प्रमाणिकता सिद्ध कर सकते। इस सम्बन्ध मे दुर्भिक्ष समाप्ति के बाद पाटलीपुत्र मे एक सम्मेलन हुआ जहाँ अनेक साधु एकत्र हुए और जिनको जो कुछ स्मरण था उसके आधार पर श्रुत का सकलन हुआ। पर साधुओ के दूसरे वर्ग ने अनेको की स्मृति के आधार पर बने हुए इस सकलन क प्रामाणिक नही माना। किन्तु अपनी परम्परा मे ही एक के बाद दूसरे को उत्तराधिकार रूप मे जितना मिला उसकी रक्षा मे सतुष्ट होकर उतने से ही काम चलाया। यह श्रुत मात्रा मे अल्प था और बाद मे उत्तरोत्तर अल्प ही होता गया। जब इस अल्प श्रुत के भी नष्ट होने का समय आया तो फिर श्रुत रक्षा की चिन्ता हो गई। चूँकि काल दोप से लोगो की स्मरण शक्ति कम होने लगी थी अत श्रुत रक्षा के लिए उसका लिपिबद्ध होना आवश्यक समझा गया। फलस्वरूप प्रथमबार शास्त्र को पट्खण्डागम और कपाय पाहुड रूप मे लिपिबद्ध किया।

इस तरह हम देखते हैं कि श्रुत विच्छेद के बाद और कुन्दकुन्द से पहले केवल श्रुत की रक्षा के प्रयत्न तो होने लगे लेकिन मान्यताओ के आधार पर जो मतभेद उत्पन्न हो गये थे उन पर [illegible] करने का प्रयत्न किसी ने नही किया। यह कार्य आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ऊपर लिया। और जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है उन्होंने [illegible] सभी मान्यताओ पर अपनी लेखनी चलाई और अपने चिरकालीन अनुभवों को [illegible] रूप से ग्रन्थ निबद्ध किया। अत युग प्रतिष्ठापक होने का श्रेय कुन्दकुन्द को मिलना स्वाभाविक था। [illegible] उस समय और बाद की परम्परा ने कुन्दकुन्द को जो स्थान दिया वो अन्य आचार्यों को नही मिला। कुन्दकुन्द की युग [illegible] यह भी हो सकता है कि उन्होंने गिरनार पर्वत पर [illegible] देवी की [illegible] मत भेद के परिणाम स्वरूप [illegible] देवी से यह कहलवाया कि निर्ग्रन्थ

साधारण विद्वान् साधुओं को उन विषयों पर लेखनी चलाने का साहस न होता था विशेषत: इसलिये कि वे अपनी लिखित रचना की प्रामाणिकता को जनता के हृदय में बठाने में सन्देहशील थे। स्वयं कुन्दकुन्दाचार्य के सामने भी कुछ अंशो में यही स्थिति थी लेकिन अपनी इस स्थिति को बडी कुशलता के साथ बचाते हुए जनता को उद्बोधन करने के लिए व आगे बढे।[1] अपने साहित्य को द्विगुणित किया और अपने अनुभव की बाजी लगाकर उन्होंने पचास्तिकाय समयसार तथा प्रवचनसार की रचना की। पचास्तिकाय में सम्यग्दर्शन के विषय भूत अस्तिकाय द्रव्यों का वर्णन है। समयसार में सम्यग्ज्ञान के आधारभूत स्वद्रव्य पर द्रव्य का विवेचन है और प्रवचनसार में सम्यक् चारित्र की व्याख्या है। इस प्रकार तीनों ही ग्रन्थों में सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र का आवश्यक विस्तार के साथ सुसम्बद्ध विवेचन कर उन्होंने साक्षात् मोक्ष मार्ग को मुमुक्षु जनता के लिये प्रदर्शित किया। यह उनकी ऐसी विशेषता थी जिसके सामने सभी नत मस्तक हुए। श्रोता और पाठकों की बुद्धि में संशय विमोह आदि को अवकाश न रहा। भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद यह पहला ही अवसर था।

जब भाताव्यामियों को तत्व चिंतन की एक व्यवस्थित दिशा मिली। मोक्ष मार्ग का दर्शन करने वाली मूल मान्यताओं पर असंदिग्ध विवेचन मिला, तब मतभेद के स्थान पर मतैक्य के कुछ पर जमे। यही कारण है कि दिगम्बर जैन परम्परा में भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद आचार्य कुन्दकुन्द का नाम ही बड़े आदर के साथ लिया जाता है।[2] उनकी परम्परा में उनके नामोल्लेख को गौरव की वस्तु समझा जाता है। कुन्दकुन्द की ये रचनाएँ उनके बाद भी शताब्दियों तक जन जन को प्रेरणा देती रही है और आज भी उनका आकर्षण कम नहीं है।

वस्तुत: कुन्दकुन्द के पूर्ववर्ती आचार्यों का काम केवल श्रुत का संरक्षण मात्र था। भगवान महावीर के निर्वाण के बाद जब तक केवली श्रुत केवली हुए, तब तक श्रुत को स्वाभाविक रूप से अविच्छिन्न धारा चलती रहा। इसके बाद दुर्भिक्ष ने सामाजिक और क्षेत्रीय व्यवस्था को जन्म दिया। जिन समाजों में खान-पान रहन सहन पूजा-पाठ की एकरूपता थी उनके स्थान छोड़ देने से उसमें परिवर्तन आ

---

1 त एयत्त विहत्त दाएह अप्पणो स विहवेण।
जदि दाएज्ज पमाण चुक्किज्ज छल न घेतव्व ॥५॥ स० सा०
अर्थ—मैं उस एक विभक्त आत्मा को अपने अनुभव ज्ञान की सामर्थ्य से दिखलाता हूँ। यदि दिखा सकूँ तो प्रमाण स्वीकार करना, यदि चूक जाऊँ तो छल ग्रहण न करना।

2 मगल भगवान वीरो मगल गौतमो गणी।
मगल कुन्दकुन्दाद्यो जैनधर्मोऽस्तु मगलम् ॥

चारित्र पाहुड मे आचार्य कुन्दकुन्द ने सम्यक्त्व को भी चारित्र का रूप दिया है और उसका नाम सम्यक्त्व चरण चारित्र रक्खा है[1]। यह नामकरण भी कुन्दकुन्द की अपनी विशेषता है। सप्ततत्त्व और आत्मश्रद्धान के साथ-साथ आचार्य कुन्दकुन्द कुछ क्रियात्मक आचरण भी चाहते हैं। यह क्रियात्मक आचरण वात्सल्य, विनय, अनुकम्पा दान, दाक्षिण्य, मार्गप्रशसा, उपगूहन रक्षा आर्जव आदि है[2]। इसके अतिरिक्त २५ मलो का त्याग भी इसमे सम्मिलित है। इसी का नाम सम्यक्त्वचरण चारित्र है और लिखा है कि जो मनुष्य सम्यक्त्वचरण से भ्रष्ट होकर सयम चरण का आचरण करते हैं वे ज्ञान अज्ञान को न समझते हुए निर्वाण को प्राप्त नही करते। इस सम्यक्त्व चरण को उन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चरित्र की शुद्धि का कारण बताया बताया है[3]। इस प्रकार १७ गाथाओ मे (गाथा न० ४ से २० तक) सम्यक्त्वचरण चारित्र का वर्णन किया है तथा बाद मे सयम चरण का।

बोधप्राभृत मे आयतन, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा दर्शन, जिनबिम्ब, जिनमुद्रा, ज्ञान, देव, तीर्थ, अरहत, दीक्षा इन ग्यारह अधिकारो का वर्णन किया है। इनके साधारणतया अर्थ वे ही है जो इन शब्दो से वाच्य है। पर आचार्य कुन्दकुन्द ने वे अर्थ नही किये। वे महाव्रती मुनि को आयतन कहते हैं तथा केवली भगवान को सिद्धायतन कहते हैं। निज पर को ज्ञानस्वरूप चेतना रूप जानता हुआ, महाव्रतो से शुद्ध मुनि को चैत्यगृह कहते है। विहार करता हुआ सयमी मुनि जगम प्रतिमा है, सिद्ध परमेष्ठी स्थावर प्रतिमा है। निर्ग्रन्थ मोक्ष मार्ग को दर्शाने वाला मुनि दर्शन है। आचार्य परमेष्ठी जिन बिंब है। सयम मुद्रा, इन्द्रिय मुद्रा और कषाय मुद्रा को धारण करने वाले ये ही आचार्य जिन-मुद्रा कहलाते हैं। जो धर्म, अर्थ काम और ज्ञान देता है वह देव है, निर्दोष धर्म, सम्यग्दर्शन, तप, सयम, ज्ञान आदि गुण तीर्थ है।

इस प्रकार अनेक विषयो पर उन्होने अपनी मौलिक लेखनी चलाई है। ये सभी प्रमेय उस समय के युग के लिए बिलकुल नये थे। यहा हम इस कथन का उपसहार करते हुए सक्षेप मे उनकी युग प्रतिष्ठापकता के कारण देते हैं—

मतभेद के समय न्यायी निर्णय, उन्मार्ग का दृढता से विरोध, श्रुत के सर्वांग विच्छेद होने के बाद अपने पूर्ण ज्ञान वैभव के साथ मूल सिद्धान्तो पर ग्रन्थ रचना,

---

१ जिणणाण दिट्ठि सुद्ध पढमं सम्मत्तचरण चारित्तं।
बिदिय सजम चरणं जिणणाण स देसिय त पि ॥५॥

२ वच्छल्ल विणएण य अणुकपाए सुदाण दच्छाए।
मग्ग गुण ससणाए उवगूहण रक्खणाये य ॥११॥

३ [illegible] अज्जवेहमर्जेहि जीवो आरहंतो जिणसम्मत्त [illegible] ॥
[illegible] जीवस्स [illegible],
[illegible] सुद्धि चारित्तं ॥५.२॥

दिगम्बर धर्म सच्चा है। कुन्दकुन्द से पहले जैन साहित्य में कथा विवरणिका या शिलालेखों में ऐसा कोई आधार नहीं मिलता जहाँ शास्त्रार्थ के आधार पर शास्त्रीय विषय का निर्णय किया गया हो। कुन्दकुन्द ही पहले शास्त्रार्थी थे जिन्होंने उक्त चमत्कार से (अम्बिका देवी से कहलवा कर) दिगम्बर धर्म की प्रतिष्ठा की। अतः उनके इस कार्य का भी दिगम्बर सम्प्रदाय पर अत्यधिक प्रभाव रहा होगा जिससे वे युग प्रतिष्ठापक हुए। यद्यपि यह शास्त्रार्थ वाली बात साम्प्रदायिक व्यामोह समझी जा सकती है। पर जब तक उसके विरुद्ध कोई ऐतिहासिक बाधा न आती हो अथवा यह घटना ही मूल में सम्भाव्य कोटि में न आती हो तब तक उसका निषेध नहीं किया जा सकता।

कुन्दकुन्द की युगप्रतिष्ठापकता का तीसरा कारण उनके प्रतिपाद्य विषयों की मौलिकता है। एकत्व विभक्त आत्मा का वर्णन उन्होंने जिस मौलिकता को लेकर किया है। वह दिगम्बर श्वेताम्बर वाङ्मय में कहीं नहीं है।

'तं एयत्त विहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।'

यह कहकर उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि आत्मा के वर्णन के सम्बन्ध में उनके ज्ञान और अनुभव का सारा भंडार लग चुका है। यही कारण है कि उनके आत्मा सम्बन्धी अनुभव पढ़कर 'यन्नहास्ति न तत्क्वचित्' वाली कहावत चरितार्थ होती है।

इसके अतिरिक्त कुछ क्रान्तिकर चर्चाएँ भी ऐसी हैं जिन्हें आचार्य कुन्दकुन्द की लेखनी से ही पहली बार प्रसूत देखी गई हैं। सर्वज्ञ की व्याख्या का उल्लेख जैन शास्त्रों में सर्वत्र इस रूप में देखा गया है कि जो सम्पूर्ण द्रव्य और उनकी त्रैकालिक अनन्त गुण पर्यायों को युगपद् जानता हो वह सर्वज्ञ है। लेकिन आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि निश्चय से सर्वज्ञ आत्मा को ही जानता है और व्यवहार से त्रिलोकवर्ती पदार्थों को जानता है। यद्यपि पूर्ववर्ती आचार्यों के कथन से यह विरुद्ध नहीं है फिर भी इतना स्पष्ट और निर्भ्रान्त पूर्ण कथन पहले किसी आचार्य ने नहीं किया। एकत्व वितर्क शुक्ल ध्यान के बाद ही केवल ज्ञान होता है। एकत्व वितर्क में उपयोग आत्माभिमुख ही रहता है। अतः केवलज्ञान होने पर उसका (उपयोग का) वैसा का वैसा रह जाना आवश्यक है इसलिए आत्मज्ञ ही सर्वज्ञ हो सकता है। यह बात दूसरी है कि ज्ञानावरण के विनाश से पर पदार्थों के जानने में भी उसे कोई रुकावट नहीं रहा पर उसके उपयोग की दिशा आत्मस्थ है परस्थ नहीं है। इस सिद्धान्त को पं० दौलतरामजी ने भी इन शब्दों में व्यक्त किया है—

'सकल ज्ञेयज्ञायक तदपि निजानन्द रसलीन।
सो जिनेन्द्र जयवन्त नित अरि रज रहस विहीन॥'

ज्ञान [illegible] पदार्थों का ज्ञाता मानकर भी सर्वज्ञ को [illegible] में स्थान दिलाया है। अतः आचार्य कुन्दकुन्द की व्याख्या मर्मस्पर्शी और सारगर्भित है।

प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द से पूर्व और बाद मे अनेक समर्थ आचार्यो के होने पर भी कुन्दकुन्द के नाम से कुन्दकुन्दान्वय की प्रवृत्ति होना, उनकी विशेष महत्ता का द्योतक है। मूल सघ की परपरा मे होने वाले अधिकाश आचार्यो ने अपने को कुन्दकुन्दान्वय का कहने मे गौरव अनुभव किया है। मूल सघ की स्थापना यद्यपि कुन्दकुन्दाचार्य से पहले हो गई थी और उसका मुख्य कारण सभवत दिगबर और श्वेताम्बर रूप मे श्रमण सघ का बट जाना था, फिर भी अनुमान है कि दिगबर श्रमणो मे भी कई मत-भेद पैदा हो गये थे, दिगबर शास्त्रो मे पाँच जैनाभासो का नाम आता है, वे पाच नाम इस प्रकार है—गोपुच्छक, श्वेतपट, द्राविड, यापनीय तथा नि पिच्छक।[1] इसमे श्वेतपट तो आज भी विद्यमान है। यापनीयो का केवल साहित्य उपलब्ध है। किंतु गोपुच्छक (सुरा गाय की पूँछ की पिच्छिका रखने वाले) द्राविड और नि पिच्छक (बिना पीछी के रहने वाले) उनका कही पता नही है और इनके मुख्य-मुख्य सिद्धान्त क्या थे, इसकी भी चर्चा जैन शास्त्रो मे नही है। अत ये अत्यन्त प्राचीन ही प्रतीत होते हैं। यापनीय साहित्य की रचना देखकर वे कुन्दकुन्द के बाद के प्रतीत नही होते। इसलिये जब ये तथाकथित जैनाभास प्राचीन है तब इनसे अपने आपको अलग करने के लिए ही मूल सघ की स्थापना की गई होगी।[2] और भगवान महावीर के मूलधर्म मे आस्था रखने वाले ही मूल सघी कहलाए होंगे। इन्द्रनन्दिकृत नीतिसार मे सिहसघ, नन्दिसघ सेन-सघ और देव सघ का निर्माण नैमित्तिकाग्रिणी अर्हद्बलि आचार्य द्वारा होना बतलाया है[3] और लिखा है कि इनके प्रव्रज्या आदि कर्म मे कोई मतभेद नही है। इनमे चार सघो के अतिरिक्त मूलसघ नाम का कोई पाँचवा सघ नही है अत इस मूल सघ को ही आचार्य अर्हद्बलि ने चार सघो मे विभक्त किया था ऐसा प्रतीत होता है। हमारे इस कथन की पुष्टि विन्ध्यगिरि के मुद्रित शिलालेखो मे १०५ नम्बर के शिलालेख से भी होती है। उसमे लिखा है—

'अर्हद्बलिस्सघचतुर्विध स श्री कोण्डकुन्दान्वय मूलसघम्।
कालस्वभावादिह जायमान द्वेपेतराल्पीकरणाय चक्रे ॥२६॥

इससे ज्ञात होता है कि काल स्वभाव से बढते हुए द्वेष को कम करने के लिए अर्हद्बलि आचार्य ने कुन्दकुन्दान्वय मूल सघ को चार सघो मे विभक्त कर दिया।

---

१. गोपुच्छक. श्वेतवासा द्राविडो यापनीयक।
नि पिच्छश्चेति पचैते जैनाभासा प्रकीर्तिता ॥

२. [illegible] विमते विननोतु भेदम्।
[illegible] पथ्यं [illegible] ॥ विन्ध्य गि० १०५

३. [illegible]
[illegible]
[illegible] । नीतिसार

नदिगण मे पद्मनदि जिनका निर्दोष नाम था और बाद मे जो कुन्दकुन्दाचार्य कहलाए पैदा हुए, समीचीन चारित्र के पालने से इन्हे चारणऋद्धि) आकाश मे चार अगुल ऊँचे चलना) प्राप्त हो गई थी ।

'वन्द्यो विभुर्भुविन कैरिह कोन्डकुन्द
कुन्दप्रभाप्रणयिकीर्तिविभूषिताश:
यश्चारु-चारणकराम्बुजचचरीक-
श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयत प्रतिष्ठाम् ।'

शक सवत् १०५० नवर ५४

कुन्द पुष्प के समान अपनी निर्मल कीर्ति से दिशाओ को भूसित करने वाले, चारणऋद्धि सपन्न, साधुओ के कर-कमलो के लिए भ्रमर आचार्य कुन्दकुन्द की कौन वदना नही करता जिन्होने इस भरत क्षेत्र मे श्रुत की प्रतिष्ठा की इसमे कुन्दकुन्द को सर्वजनवद्य कहकर उनकी प्रशसा की है और उन्हे भरतक्षेत्र मे श्रुत का प्रतिष्ठापक बतलाकर उनको समर्थ आचार्य के रूप मे प्रदर्शित किया है ।

'श्रीमान् कुम्भो विनीतो हलधरवसुदेवाचलो मेरू धीर,
सर्वज्ञ सर्वगुप्तो महिधरधनपालौमहावीरवीरौ
इत्याद्यनेक सूरिष्वय सुपदमुवेतेषु दीव्यत्तपस्या,
शास्त्राधारेषु पुण्यादजनि स जगता कोन्डकुन्दो यतीन्द्र ।'

कुम्भ, हलधर, वासुदेव, सर्वगुप्त, महीधर, धनपाल आदि अनेक आचार्य उन्नत पद के धारी हुए जो शास्त्राधार मे तपस्या आदि करते थे । उनमे जगत् के भाग्योदय से कुन्दकुन्द यतियो मे श्रेष्ठ हुए । इसमे कुन्दकुन्द को यतीन्द्र पद से पुरस्कृत किया है और उनकी उत्पत्ति को जगत के पुण्य का फल माना है ।

इसी के बाद दूसरा श्लोक इस प्रकार है—

'रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्तर्बाह्येपिसव्यञ्जयितु यतीश,
रज पद भूमितल विहाय चचारमन्येचतुरगुल स ।'

यतियो मे श्रेष्ठ कुन्दकुन्द अन्तरग रज, रागद्वेष और वहिरग रज, परिग्रहादि, [illegible] के वशीभूत न होने के लिए मानो रज पूर्ण पृथ्वी को छोड़कर वे चार अगुल ऊपर विहार करते थे ।

इसमे आचार्य कुन्दकुन्द की अतरग पवित्रता और बाह्य निग्रथता को स्वीकार किया है ।

विन्ध्यगिरि के शिलालेख मे जो शक सवत् १३५५ का है, आचार्य परम्परा [illegible] कुन्दकुन्द की इस प्रकार स्तुति की है—

'[illegible] प्रथितो [illegible] यति रत्नमाला,
[illegible] कुन्दकुन्दोदितचण्डदण्ड: ।'

भद्रबाहु के शिष्य आचार्य चन्द्रगुप्त की वश रूपी खान मे अनेक निर्दोष यति

इस प्रकार यद्यपि मूलसघ पहले से ही चला आ रहा था पर मूल सघ की स्थिति को दृढ करने मे जो प्रयत्न आचार्य कुन्दकुन्द का रहा वह किसी का भी नही रहा। मूलसघ की परपरा मे अनेक आचार्यों के चले आने पर भी कुन्दकुन्द को ही मूल सघ का अग्रणी माना जाता रहा है, जैसा कि निम्न श्लोक से प्रकट है—

श्रीमतो वर्द्धमानस्य वर्द्धमानस्य शासन

श्री कोण्डकुन्दनामाभू मूलसघाग्रिणी गणी।

अर्थात् वर्धमान जिनेन्द्र के बढते हुए शासन मे मूल सघ के अग्रणी कुन्दकुन्द नाम के आचार्य हुए।

इसके अतिरिक्त मूलसघ के साथ कुन्दकुन्द का नाम इतना अधिक जुड गया है कि आगे चलकर केवल मूलसघ लिखने से ही लोगो को सतोष नही हुआ किन्तु उसके साथ कुन्दकुन्दान्वय भी जोडना प्रामाणिकता के लिए आवश्यक समझा गया। कहीं कहीं तो मूल सघ के पहले कुन्दकुन्दान्वय लिखा हुआ मिलता है जैसा कि विन्ध्यगिरि के शिलालेख नम्बर १०५ मे श्री कोण्डकुन्दान्वय मूलसघम् लिखा है। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि यदि मूल सघ मे आचार्य कुन्दकुन्द न होते तो मूलसघ की स्थिति और प्रामाणिकता आज किसी दूसरे रूप मे ही होती और सच तो यह है कि दिगबर श्रमण सघ भी एक इतिहास की वस्तु होता। यह आचार्य कुन्दकुन्द की महत्ता है कि आज दिगबर परपरा जीवित है।

परवर्ती शिलालेखो, पट्टावलियों और आचार्यों ने जो कुन्दकुन्द का गुणगान किया है उससे भी आचार्य कुन्दकुन्द की महत्ता का पता चलता है। चन्द्रगिरि पर्वत के शिलालेख प्राय उनकी प्रशसा से भरे पडे हैं। उनमे से कुछ का दिग्दर्शन कराना अनुचित न होगा साथ ही उससे कुन्दकुन्द के इतिहास पर भी कुछ प्रकाश पडेगा। शक सवत् १०८५ के शिलालेख मे भगवान महावीर के बाद की परपरा का उल्लेख करते हुए लिखा है—

तस्यान्वये भूविदिते बभूव य पद्मनन्दि प्रथमाभिधान।

श्री कोण्डकुन्दादि मुनीश्वराख्यस्सत्सयमादुद्गतचारणर्द्धि ॥

भगवान महावीर गौतम गणधर भद्रबाहु श्रुत केवली तथा उनके शिष्य चन्द्रगुप्त की प्रसिद्ध परपरा मे पहले जिनका नाम पद्मनन्दि था उन कुन्दकुन्द नाम के मुनीश्वर हुए, निर्दोष सयम के पालन करने से जिन्हे चारणऋद्धि प्राप्त थी।

यद्यपि चन्द्रगुप्त और कुन्दकुन्द के अन्तराल मे अनेक समर्थ आचार्य हुए हैं फिर भी उन सबका नाम छोडकर कुन्दकुन्द का नामाकित करना कुन्दकुन्द के विशेष प्रभाव का द्योतक है।

शिलालेख नबर ४१ शक सवत् १०४५ मे लिखा है—

श्री पद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यशब्दोत्तरकोण्डकुन्द।

द्वितीयमासी दभिधानमुद्यच्चारित्रसञ्जातसुचारणर्द्धि ॥

सोणेओ परमाणु परिणामगुणो सयमसद्दो ।। प० का० ७८।। ति० प० १०१ अ०१

एग रस वण्ण गध दो फास सद्दकारणमसद्द,

सघतरिद दव्व परमाणु त वियाणेहि ।। प० का० ८१, ति० प० ९७

कुन्दकुन्द कृत "बारस अणुवेक्खा" मे ससार अनुपेक्षा की निम्न गाथाएँ आचार्य पूज्यपाद ने¹ "ससारिणो मुक्ताश्च" सूत्र की सर्वार्थ सिद्धि नामक तत्वार्थ वृत्ति मे "उक्तच" करके दी है—

'सव्वे वि पोग्गल खलु एगे भुत्तुज्झिया हु जीवेण,
असय अणत खुत्तो पग्गलपरियट्ट ससारे
सव्वम्मि लोयखेत्ते कमसो त णत्थि जण्ण उप्पण्ण
उग्गाहणेण बहुसो परिभामिदो खेत्त ससारे
अवसप्पिणि उस्सप्पिणि समयावलियासु णिरवसेसासु
जादो मुदो य बहुसो परिणमदो कालससारे
णिरआऊ जहण्णदिसु जावदु उवरिल्ल या दु गेवेज्जा
मिच्छत्त ससिदेण दु बहुसो वि भवट्ठिदी भमिदो
सव्वे पयडिट्ठिदिओ अणुभागप्पदेसबध ठाणाणि
जीवो मिच्छत्त वसा भमिदो पुण भाव ससारे ।'
'छक्कापक्कमजुत्तो उवउत्तो सत्तभत्त सब्भावो
अट्ठासओ णवत्थो जीवो दस ट्ठाणगो भणिदो
आदाणाणपमाणणाण णेयप्पमाण मुद्दिट्ठ,
णेय लोयालोय तम्हा णाण तु सव्वगय ।'

ये गाथाएँ क्रमश "पचास्तिकाय" मे ७१, ७२ नबर पर है और "प्रवचनसार" के प्रथम अधिकार की २३वी गाथा है ।

धवला के टीकाकार आचार्य वीरसेन² जो अपने अगाध ज्ञान मे सर्वज्ञ कल्प कहे जाते है, अपने कथन की प्रामाणिकता मे कुदकुद की गाथाओ का उद्धरण देते हुए देखे जाते है। अतीन्द्रिय सुख के समर्थन मे उन्होने निम्न गाथाओ का उल्लेख किया है—

अइसयमादसमुत्थ विसयातीद अणोवम अणत,
अव्वुच्छिण्ण च सुह सुद्धुवओगप्पसिद्धाण । ध० प० ५८

यह गाथा कुदकुद कृत प्रवचनसार के ज्ञान तत्व अधिकार की १३ नम्बर की गाथा है ।

इसी प्रकार धवला पृ० १००, ३८६ पर निम्न गाथाएं उद्धृत हैं—

१ विक्रम की पाचवी-छठी शताब्दि के आचार्य ।
२ विक्रम की नवमी शताब्दि ।

रूपी रत्नों की माला उत्पन्न हुई जिसके मध्य मुनीन्द्र कुन्दकुन्द मणि की तरह सुशोभित हुए जिनका दण्ड प्रायश्चित्त बड़ा कठोर होता था।

यहाँ आचार्य चन्द्रगुप्त के बाद और कुन्दकुन्द के पहले के आचार्यों को रत्न स्वीकार किया है और उनमें कुन्दकुन्द को मणि बतलाया है। इससे पूर्ववर्ती आचार्यों की अपेक्षा कुन्दकुन्द की श्रेष्ठता सिद्ध होती है। साथ ही यह भी लिखा है कि वे कठोर प्रायश्चित्त देते थे। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि दिगम्बर शास्त्रों में आचार्य का एक अवपीडकत्व गुण स्वीकार किया गया है अर्थात् उसका शिष्य पर इतना प्रभुत्व होना चाहिए कि वह अपने अपराध को आचार्य के सामने उसी तरह उगल दे जिस प्रकार सिंह के सामने दूसरा हिंस्र पशु मांस उगल देता है। उग्रतदण्ड इसी अर्थ में यहाँ प्रयुक्त हुआ है। इससे संघ संचालन में कुन्दकुन्द की पूर्ण क्षमता प्रकट होती है। अभिप्राय यह है कि कुन्दकुन्द सिद्धान्त प्रतिष्ठापक ही नहीं थे किन्तु कुशल संघ के नेता भी थे।

आगे १३२० शक संवत् के शिलालेख में श्रुत मुनि की प्रशंसा करते हुए प्रसंगवश आचार्य कुन्दकुन्द को अध्यात्म सर्वश्रेष्ठ माना है—

'शब्देन्द्री पूज्यपाद सकल विमलचिद्‌तत्त्वे मुनीन्द्र
सिद्धान्ते सत्य रूपे जिनवरगदिते गौतम कौण्डकुन्दः
अध्यात्मे वर्द्धमानो मनसिजमथन वादिभूत् पूज्यपादा—
विस्मय कीर्तिपात्र श्रुत मुनिवद्भूत भूतले को त्रवृशिचत्'

जो व्याकरण शास्त्र में आचार्य पूज्यपाद सम्पूर्ण वादियों को जीतने वाले न्याय शास्त्र में अकलंक जिनेन्द्र महावीर द्वारा कथित सत्य सिद्धान्त के प्रतिपादन में गौतम गणधर, अध्यात्म शास्त्र में आचार्य कुन्दकुन्द कामदेव को जीतने वाले दुःखानि को शमन करने में वर्धमान, तीर्थंकर थे, उन श्रुत मुनि की तरह तीन भुवन में कीर्ति का पात्र कौन हुआ है? अर्थात् कोई नहीं।

यहाँ श्रुत मुनि के लिए लिखा है कि अध्यात्म के प्रतिपादन में वे कुन्दकुन्द थे। अर्थात् कुन्दकुन्द सदृश जैन परंपरा में अध्यात्म के एकमात्र प्रवक्ता और प्रणेता थे। वस्तुतः उनका समयसार ग्रन्थ जिसके बारे में आगे लिखा जायगा तथा नियमसार आदि इसी कोटि के ग्रन्थ हैं। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि दिगम्बर परंपरा में तत्त्व जिज्ञासु मुमुक्षुजन आज भी कुन्दकुन्द के इन अध्यात्म ग्रन्थों का बड़ी रुचि और श्रद्धा के साथ अधिक संख्या में स्वाध्याय करते हैं। तथा इन ग्रन्थों के आधार पर अनेक व्यक्तियों ने दिगम्बर धर्म स्वीकार किया है।

कुप्पटूरु के शक संवत् ६६७ के लेख में कुन्दकुन्द को श्रुत का पारगामी लिखा है—

श्रुत पारगरनवधर। पञ्चशुल्क चारणाद्धि सम्पन्नरप्पा हुन
कुन्दकुन्दाचार्य ... । अतवर गुणकर्लंधि कुन्द कुन्दाचार्य।

'ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्त दसण णाण,
णवि णाण ण चरित्त ण दसण जाणगो सुद्धो,
भरहे दुस्सम काले धम्मज्झाण हवेइ णाणिस्स,
त अप्प सहावठिदो ण हु मण्णइ सोहु अण्णाणि ।'

ये दोनो गाथाएँ क्रमश समयसार और मोक्ष प्राभृत मे ७ और ७६ नम्बर पर दी है ।

प्रवचनसार[1] मे आत्मा को ज्ञान प्रमाण बताकर उसका सर्वगतत्व स्वीकार किया है और लिखा है कि जो आत्मा को ज्ञान प्रमाण न मानेगा उसे आत्मा हीन या अधिक मानना पडेगा । इस प्रकार दो गाथाओ मे प्रतिपादित उक्त कथन को द्रव्य स्वभावप्रकाश मे एक गाथा मे इस प्रकार दिया है —

अप्पा णाणपमाण णाण खलु होइ जीवपरिमाण ।
णवि णूण णवि अहिय जह दीवो तेण परिणामो ॥ ३८७ ॥

इतना ही नहीं प्रत्युत अपने कथन को विस्तार से जानने के लिए 'द्रव्य स्वभाव प्रकाश' के कर्त्ता कुन्दकुन्दकृत प्रवचनसार की ओर सकेत करते है और लिखते है कि मैंने तो उसी का यहाँ अश मात्र लिया है ।[2] इसी प्रकार समयसार मे आलोचनादि को जो विषकुम्भ बतलाया है उसकी अपने कथन के साथ सगति बताते हुए उसकी आपेक्षिकता को समझने के लिए उपदेश देते हैं ।[3]

कुन्दकुन्द कृत नियमसार मे कारणसमयसार और कार्यसमयसार के कथन को भी द्रव्यस्वभावप्रकाश मे अपनाया गया है और लगभग ६ गाथाओ मे उसका वर्णन किया है ।

इसके अतिरिक्त अनेको प्रमेय है जो कुन्दकुन्द की विभिन्न रचनाओ मे और द्रव्यस्वभावप्रकाश मे मिलते-जुलते हैं जिनके पढने मे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि द्रव्यस्वभावप्रकाश मे कुन्दकुन्द के वचनो का हृदय खोलकर आधार लिया गया है ।

ये द्रव्य स्वभाव प्रकाश के कर्त्ता माइल्ल दव सभवत दर्शनसार और नयचक्र प्रणेता आचार्य देवसेन के शिष्य प्रतीत होते है । द्रव्यस्वभावप्रकाश नामक अपने

---

१ आद णाणपमाण णाण णेयप्पमाणमुद्दिट्ठ,
णेय लोयालोय तम्हा णाण तु सव्वगय ॥ २३ ॥ अ० १
णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह तस्स सो आदा,
हीणो वा अहिओ वा णाणादो हवदि धुवमेव ॥ २४ ॥

२ [illegible] सरागचारित्त [illegible] वित्थारे,
[illegible] ॥ ३३६ ॥

३ [illegible] गुदचरियस्स,
[illegible] ॥ ३३८ ॥

इसी प्रकार —

"श्री पद्मनदीत्यनवद्यनाम आचार्य शब्दोत्तर कोण्डकुन्दः"

इस वाक्य से भी कुन्दकुन्द का पहला नामा पद्मनन्दी सिद्ध होता है। दर्शन सार के रचियता आचार्य देवसेन विक्रम सवत् ९९० मे हुए है उन्होने अपने ग्रन्थ मे कुन्दकुन्द का पद्मनन्दी ही नाम दिया है जो प्राय प्राचीन है।

दूसरा नाम कुन्दकुन्द उनके जन्म स्थान से सबध रखता है। जब पद्मनन्दी नाम के और भी आचार्य हुए तब समवत उनसे पृथक् पहचान करने के लिए उन्हे जन्म स्थान के नाम मे सबोधित किया गया है और इस तरह उनका कुन्दकुन्द नाम पडा होगा। बाद की परम्परा मे तो पद्मनदी की जगह कुदकुद ही नाम अधिक प्रचलित रहा है। मुख्य नाम के स्थान पर उपनाम से प्रसिद्धि प्राय आज भी देखी जाती है।

तीसरा नाम उनका वक्रग्रीव है। यह नाम उनका कब कैसे पडा इसके पीछे आज तक कोई अनुश्रुति उपलब्ध नही हुई है। वक्रग्रीव का अर्थ है टेढी ग्रीवा (गर्दन) वाला व्यक्ति। सम्भव है आचार्य कुदकुद की ग्रीवा कुछ टेढी रही हो। आध्यात्मिक युगपुरुष के महात्मा होने पर भी उसकी शारीरिक विचित्रता को कौन रोक सकता है। अष्टावक्र तत्कालीन हिन्दू समाज के प्रख्यात् महर्षि हो गये हैं जो राजा जनक की सभा की शोभा बढाते थे। किन्तु उनका शरीर आठ स्थान से टेढा था। अत कुदकुद की ग्रीवा का वक्र होना कोई आश्चर्य की बात नही।

डा० ए० एन० उपाध्ये ने प्रवचनसार की प्रस्तावना मे कुदकुद का वक्रग्रीव नाम स्वीकार नही किया है। उनका कहना है कि किसी भी शिलालेख मे कुदकुद का वक्रग्रीव नाम उपलब्ध नही होता। और जहाँ कही भी वक्रग्रीव नाम के स्वतन्त्र आचार्य का उल्लेख है वहाँ उनके गण गच्छ की सगति आचार्य कुदकुद के गणगच्छ से ठीक नही बैठती। इन दोनो तर्कों के उत्तर मे हमारा निवेदन है कि कुदकुद का वक्रग्रीव नाम शिलालेख मे भी है और जहाँ वक्रग्रीव के गणगच्छादि का उल्लेख है उसकी सगति भी गणगच्छ मे विपरीत नही जाती। ईसवी सन् १३७३ के विजयनगर के एक शिलालेख मे जिसका सबध नन्दिसघ मे है कुदकुद के पाँचो नाम का उल्लेख है[1] तथा [illegible] की पट्टावली मे भी इन पाचो नामो का उल्लेख है। जहाँ तक गणगच्छ का [illegible] है [illegible] सं० १०८० के ४९३ वे न० के लेख मे वक्रग्रीव आचार्य को द्रमिण गण [illegible] अरुगलान्वय का आचार्य बताया है। नन्दिसघ मूलसघ का ही भेद है और [illegible] मूलसघ मे अन्तर्गत है अत कुदकुद के गणगच्छ से वक्रग्रीव का [illegible] विरुद्ध नही है। यह पहले लिखा जा चुका है कि कुदकुद मूलसघ के अग्रणी थे। [illegible] जो शाखा प्रशाखाएँ फूटती गई उनमे होने वाले [illegible] कुदकुन्द के नाम से याद किया है। उदाहरण के लिए

1. [illegible] श्रीमद्द्रमिलगणनन्दिसंघदरुगु [illegible] आन्वयदा चार्यबिन्नि [illegible]।

ग्रन्थ में इन्होंने देवसेन आचार्य को गुरु मानकर नमस्कार किया है जैसा कि उनके इस वाक्य से स्पष्ट है —

सियसद्दसुणयदुण्णय दणुदेहविदारणवरवीर
तं देवसेणदेवं णयचक्कयरं गुरुं णमह ॥

स्यात् शब्द से युक्त सुनय के द्वारा दुर्नय रूपी राक्षस की देह को विदारण करने वाले नयचक्र के कर्ता देवसेन देव नाम के गुरु को नमस्कार करता हूँ।

देवसेन का समय उनके रचित दर्शनसार के अनुसार विक्रमीय संवत् ९९० है अतः माइल्ल धवल का भी समय इसके कुछ बाद अर्थात् ११वीं शताब्दि का पूर्वार्द्ध चरण होना चाहिए।

इस प्रकार कुन्दकुन्द के बाद के आचार्यों ने अपने कथन की प्रामाणिकता में कुन्दकुन्द की रचनाओं के जो उद्धरण दिए हैं उससे आचार्य कुन्दकुन्द की प्रामाणिकता सहज सिद्ध हो जाती है। यहाँ हमने केवल ११ वीं शताब्दि तक के उद्धरण उपस्थित किए हैं इसके बाद के आचार्यों की रचनाओं में भी कुन्दकुन्द के उद्धरण पाये जाते हैं[1] जिन्हें निबंध के बढ़ जाने की दृष्टि से नहीं लिखा जा रहा है।

कुन्दकुन्द के नामान्तर

कुन्दकुन्द का सर्व प्रसिद्ध नाम यद्यपि कुन्दकुन्द ही है फिर भी पट्टावलियों और टीकाकारों ने उनके पाँच नामों का उल्लेख किया है ये नाम क्रमशः इस प्रकार हैं —

पद्मनन्दी, कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य, गृद्धपिच्छाचार्य। इन नामों का उल्लेख विक्रम की १६ वीं शताब्दि के विद्वान् कुन्दकुन्द कृत षट्प्राभृत के टीकाकार आचार्य श्रुतसागर ने प्रत्येक प्राभृत की टीका के अन्त में किया है। तथा इसमें पहले नन्दि संघ से संबंध रखने वाले ईसा की १४ वीं शताब्दि के एक शिलालेख में इन पाँचों नामों का उल्लेख है।[2]

ये पाँचों नाम कब कैसे हुए इसका कोई प्रामाणिक इतिहास नहीं है। जहाँ तक पद्मनन्दी का संबंध है यह कुन्दकुन्द का पहला और मूल नाम मालूम पड़ता है शिलालेखों में जहाँ कुन्दकुन्द की चर्चा है वहाँ पहला नाम उनका पद्मनन्दि ही आता है जैसा कि इस वाक्य से स्पष्ट है —

यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः श्री कोण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्यः

अर्थात् जिनका पहला नाम पद्मनन्दी था ऐसे कुन्दकुन्द नाम के मुनीश्वर हुए।

---

१ एगो मे सासदो आदा णाणदंसणलक्खणो सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा।
बोधप्राभृत तथा सा० धर्मामृत १ की टीका

२ स्वस्त्याचार्यः मूलेऽस्ति पद्मनन्दी । आचार्य कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामतिः ।
एलाचार्यो गृद्धपिच्छो इति तन्नाम पञ्चधा ।

कुदकुद के पाँच नाम गिनाए हैं ।[1] अत, जब तक कोई प्रवल विरुद्ध प्रमाण न मिले तब तक कुदकुद का वक्रग्रीव नाम मानने से इन्कार नही किया जा सकता ।

कुदकुद का चौथा नाम एलाचार्य है । एलाचार्य नाम के कई आचार्य हो गये हैं । एक एलाचार्य वीरसेन (धवला टीकाकार) के गुरु थे एक एलाचार्य दक्षिण मलयम देश के हेमग्राम के रहने वाले थे । एक एलाचार्य कुरल काव्य के रचियता भी कहलाते है । ये एलाचार्य कुन्दकुन्द ही है या दूसरे ऐसा कुछ नही कहा जा सकता । किंतु कुदकुद का दूसरा नाम एलाचार्य होना कोई असगत नही है । एलाचार्य शब्द अएल आचार्य से बना है । अएल प्राकृत शब्द है इसकी सस्कृत छाया अचेल है । अत. एलाचार्य का अर्थ होता है एचेलाचार्य । यह निश्चित है कि जैन सम्प्रदाय मे मतभेद के बाद कुदकुदाचार्य हुए है । चूंकि ये दिगम्बर परम्परा (मूलसघ) के प्रमुख आचार्य थे । अत अपने जीवन मे ये दिगम्बराचार्य अर्थात् एलाचार्य कहलाते होंगे । उसी अचेलाचार्य का विगडकर एलाचार्य हो गया है । इसलिये कुदकुद का एलाचार्य नाम होना उपयुक्त जान पडता है ।

पाँचवा नाम कुदकुद का गृद्धपिच्छाचार्य है । शिलालेखो मे प्राय सर्वत्र उमास्वाति का नाम गृद्धपिच्छाचार्य प्रसिद्ध है और उन्हे कुदकुद की परम्परा मे बतलाया है । पर उमास्वाति के साथ ऐसी कौन सी घटना घटी जिससे उन्हे गृद्धपिच्छाचार्य कहा जाने लगा इसका कोई उल्लेख नही मिलता ।

कुदकुद के विषय मे कहा जाता है कि जब ये विदेह क्षेत्र से सीमधर स्वामी के दर्शनार्थ गये तो इनकी मयूरपिच्छी कही मार्ग मे गिर गई । चूंकि पिच्छी सयम का उपकरण है उसके बिना दिगम्बर जैन साधु एक इच भी आगे नहीं बढते । अत आवश्यकतानुसार कुदकुद ने मयूर पखो के अभाव मे गिद्ध के पखो को उठाया और उसकी पिच्छी का काम चलाया तब से कुन्दकुन्द को गृद्धपिच्छाचार्य कहा गया । इस प्रकार कुदकुद के पाँचो नामो मे विरोध या असगति का कोई स्थान नही है । यह बात भिन्न है कि कुदकुद का कोई नाम अधिक प्रसिद्ध रहा हो कोई कम । वस्तुत आचार्य कुदकुद केवल "कुदकुद" नाम से ही अधिक प्रसिद्ध है । उनका वास्तविक नाम पद्मनन्दी भी अन्य नामो की तरह कम प्रचलित है । भगवान महावीर के पाँच नामो मे से सबसे अधिक महावीर और उसके बाद वर्धमान नाम ही अधिक प्रचलित है शेष नाम तो पूजा पाठ मे ही मिलते है । कुदकुद के नामो की भी यही स्थिति है । पर वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृद्धपिच्छ इन नामो की कम प्रसिद्धि रही है तथ्य इसका [illegible] किया जा सकता है । किंतु ये नाम थे ही नही यह नहीं कहा जा

1. ततोऽभवत् पञ्चसुनामधामा श्री पद्मनन्दी मुनिचक्रवर्ती ।
आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामति
एलाचार्यो गृद्धपिच्छ पद्मनन्दीति विश्रुत ।

कुन्दकुन्द की परम्परा मूलसंघ से और नन्दिगण से प्रारम्भ हुई थी।[1] पीछे से यह नन्दिगण देशीगण में बदल गया तो कुन्दकुन्दान्वय के साथ मूलसंघ देशीगण पुस्तकगच्छ जुड़ने लगा। आगे चलकर देशीगण की जगह बलात्कार गण प्रचलित हुआ तो कुन्दकुन्द के साथ बलात्कार गण शब्द का प्रयोग होने लगा।[2] यद्यपि ये देशीगण बलात्कारगण आदि परिवर्तन कैसे हुए इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता फिर भी इसके दो ही कारण हो सकते हैं एक तो यह कि कुन्दकुन्द की परम्परा में होने वाले आचार्यों के नाम उनकी किसी विशेषता या उनके समय की किसी घटना के आधार पर ये नामकरण हुए हों अथवा अपनी परम्परा को प्रमुखता देने के लिए किन्तु उसका उद्गम कुन्दकुन्द से बनाये रखने के लिए कुन्दकुन्द के ही नामान्तरों पर या उनकी किसी भिन्न विशेषता के आधार पर ये गण-गच्छ के नाम से प्रचलित हुए हों। हमारा अनुमान है कि कुन्दकुन्द का नाम वक्रग्रीव अवश्य रहा है और उस नाम के आधार पर वक्रगच्छ प्रचलित हुआ है।

लगभग शक संवत् १०१२ के शिलालेख नं० ५५ में मूलसंघ देशीगण और वक्रगच्छ की आचार्य परम्परा दी है। यह परम्परा कुन्दकुन्द से प्रारम्भ होती है जिसमें देवेन्द्र सिद्धान्त देव, चतुर्मुख देव, गोपनन्दि, प्रभाचन्द्र, माघनन्दि, वासवचन्द्र आदि बड़े बड़े आचार्यों का उल्लेख है। इसमें माघनन्दि को वक्रगच्छाधिप और वासवचन्द्रमुनि को वक्रगच्छतिलक बतलाया है। यह वक्रगच्छ निश्चित कुन्दकुन्द से प्रचलित हुआ जान पड़ता है। उसका आधार कुन्दकुन्द का वक्रग्रीव नाम ही प्रतीत होता है। जिस शिलालेख में (शक सं० १०५ लेख नं० ५४) वक्रग्रीव मुनि का उल्लेख है उसमें कुन्दकुन्द समन्तभद्र सिंहनन्दि के बाद ही वक्रग्रीव की प्रशंसा की गई है। यद्यपि इन शिलालेखों में नामों का ऐतिहासिक क्रम से उल्लेख नहीं है फिर भी समन्तभद्र और सिंहनन्दि के बाद वक्रग्रीव का आना उनकी प्राचीनता को द्योतित करता है। अब प्रश्न यह है कि प्राचीन होकर भी कुन्दकुन्द वक्रग्रीव एक कैसे हो सकते हैं जब कि कुन्दकुन्द के बाद चौथे नम्बर पर वक्रग्रीव का उल्लेख है। इसके दो ही उत्तर हो सकते हैं एक तो यह कि वक्रग्रीव नाम के दो आचार्य हों एक स्वयं कुन्दकुन्द दूसरे वे जो इस शिलालेख में वर्णित हैं। दूसरा उत्तर यह है कि कुन्दकुन्द और वक्रग्रीव नाम के एक ही आचार्य को दो समझ कर उनका अलग-अलग वर्णन कर दिया गया हो। क्योंकि इन शिलालेखों में कोई ऐतिहासिक क्रम तो है ही नहीं अतः दो नाम के एक ही आचार्य को भूल से दो समझा जा सकता है। कुछ भी हो कुन्दकुन्द का वक्रग्रीव नाम होना एकदम निराधार नहीं है। शिलालेख पट्टावलियों और प्रशस्तियों के अतिरिक्त नन्दिसंघ की गुर्वावलि में भी

---

१ [illegible] बभूव यो [illegible]

२ देखो जैन शिलालेख सं० लेख ५४।

कुन्दकुन्द का श्वेताम्बरो के साथ विवाद हुआ और उसमे ब्राह्मी देवी को साक्षी बनाया गया। ब्राह्मी देवी ने दिगम्बर मार्ग को ही सत्य बतलाया। इस कथा के अतिरिक्त पुण्याश्रवकथाकोष और आराधना कथाकोष मे भी कुदकुद के इतिवृत्त की बात कही जाती है। पुण्याश्रवकथाकोष मे लिखा है कि दक्षिण देश के कुरुमरई नाम के ग्राम मे करमण्डु नाम के एक सेठ रहते थे उनके यहाँ एक मथिवरन नाम का गोपाल रहता था। जगल मे पशु चराते समय दावानल से सुरक्षित एक स्थान को आश्चर्य मे देखकर वह उस स्थान पर पहुँचा और देखा कि वहाँ बहुत से शास्त्र रखे हुए हैं। वह श्रद्धा से उन्हे घर पर ले आया। एक दिन एक मुनिचर्या के लिये सेठ के घर पर आये। सेठ के आहार देने के पश्चात् गोपाल ने वे शास्त्र मुनि को भेट किये। उस शास्त्रदान के प्रभाव से वह गोपाल मरकर उसी सेठ का इकलौता पुत्र हुआ। यही पुत्र आगे चलकर कुदकुदाचार्य नाम से प्रख्यात तत्वज्ञानी हुआ।

तीसरी कथा आराधना कथा कोष की है जो ऊपर की कथा से प्राय. मिलती-जुलती है। केवल नाम का अन्तर है, इस कथा मे ग्वाले का नाम गोविन्द है जब कि पहली कथा मे मथिवरन था। इसमे वह मरकर शास्त्रदान के प्रभाव से कोण्डेश नाम का राजा हुआ है और उसमे वह सेठ का पुत्र कुदकुद हुआ है। ये कथाएँ है जिनके बारे मे यह निर्णय करना है कि वे इतिवृत्त है या नही।

पिछली दो कथाएँ तो केवल कुदकुदाचार्य के सम्बन्ध रखती है। पहली कथा जिसका सम्बन्ध ज्ञानप्रबोध मे है अवश्य कुदकुद का कुछ इतिहास है परन्तु वह अर्वाचीन है अत जब तक उसके मूल उद्गम का पता नही लगे तब तक उसकी प्रामाणिकता को [illegible] मे स्वीकार नही किया जा सकता।

कथा मे राजा का नाम कुमुदचन्द्र और रानी का नाम कुमुदचद्रिका लिखा है तथा [illegible] श्रेष्ठी (सेठ) का नाम और उसकी सेठानी का कुदलता बतलाया है। ये [illegible] समान नाम कथा को सत्य की अपेक्षा कल्पना के निकट अधिक पहुँचाते हैं। [illegible] समय था (१६वी और १७वी शताब्दि) जब पति-पत्नी के नाम एक से [illegible]। [illegible] का नाम [illegible] मे [illegible] पति के अनुरूप हो जाता था। मालूम [illegible] 'पुण्याश्रवकथाकोष' उसी समय की रचना है और कुदकुद की कथा तभी लिखी [illegible] किया गया है कि जब तक इस कथा का कोई [illegible]।

की टीका मे कुदकुद को कुमारनन्दि सिद्धात देव का शिष्य बताया है। इनमे सबसे पहले हम भद्रबाहु के नाम पर विचार करते हैं—

बोधपाहुड ग्रथ जिसमे भद्रबाहु के गुरुत्व का उल्लेख है ५६ गाथाओ मे समाप्त हुआ है और इसके बाद ३ गाथाएँ चूलिका रूप से आई हुई है जैसा कि निम्न शीर्षक मे स्पष्ट है—

'अथेदीना बोधप्राभृतस्य चूलिका गाथात्रयेण निरूपयन्ति।'

वे तीन गाथाएँ निम्न प्रकार है—

'रूवत्थ सुद्धत्त जिणमग्गे जिणवरेहि जह भणिय,
भव्वजणबोहणत्थ छक्कायहियकर उत्त ॥६०॥
सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु ज जिणे कहिय,
सो तह कहिय णाय सीसेणय भद्दबाहुस्स ॥६१॥
बारस अगवियाण चउदस पुव्व विउलवित्थरण,
सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरु भयवयो जयओ ॥६२॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान ने जैन शासन मे जैसा शुद्ध निर्ग्रन्थ रूप का आचरण बताया है भव्यजनो को समझाने के लिए षट्काय के लिए हितकारी वैसा ही निर्ग्रन्थ आचरण मैने बतलाया है।

शब्दविकाररूप परिणत भाषासूत्रो मे जो जिनेन्द्र भगवान ने कहा है, वैसा ही भद्रबाहु के शिष्य ने जानकर कहा है।

बारह अगयुक्त चौदह पूर्व के विपुल विस्तार को धारण करने वाले श्रुत ज्ञानी भद्रबाहु जिनके गमक गुरु हैं वे भगवान जयवन्त हो।

यह चूलिका की तीनो गाथाओ का अर्थ है। चूलिका मे वे बाते लिखी जाती हैं जो ग्रन्थ मे कही नही जा सकी हो। और जिनका बताना आवश्यक होता है। लेकिन इन गाथाओ मे ऐसा विशेष कोई अर्थ नही जिससे उन्हे चूलिका रूप दिया जा सके। जो बात इन गाथाओ के अन्दर कही गई है उसका सबध केवल एक साधारण प्रशस्ति से है। लेकिन हम देखते है कि किसी भी अन्य पाँच या सात प्राभृतो मे कुदकुद ने अपनी कोई प्रशस्ति नही दी है ऐसा भी नही है कि अन्य पाहुडो मे बोध पाहुड बहुत बडा है, और इसलिए उसमे प्रशस्ति की आवश्यकता समझी गई हो। अत बोध पाहुड के अन्त मे दी हुई ये तीनो गाथाएँ असम्बद्ध-सी जान पडती है।

सम्यग्दर्शन से शुद्ध, व्रत कर्मों का करने वाला, सुशील सम्पन्न, निरंतर दान शील, जिन धर्म का प्रेमी, धीर, अनेक गुण समुदाय से विभूषित, राजाओं से पूजित बारानगर का प्रभु, मनुष्यों में श्रेष्ठ शक्ति नाम का राजा था। बारानगर में अनेक सरोवर और वाटिकाएँ थीं, वहाँ के भवनों से विभूषित था, जो अत्यन्त सुन्दर भीड़-भाड़ से युक्त, धन-धान्य से परिपूर्ण तथा रम्य था, जिसमें अनेक सम्यग्दृष्टियों का निवास था। मुनिगण विचरते थे। इस जिन मन्दिरों से भूषित पारियात्र देश में अनेक पदों और अर्थों से संयुक्त यह जम्बूदीपप्रज्ञप्ति बारानगर में मुझ छद्मस्थ ने लिखी है। यदि उसमें कुछ प्रवचन विरुद्ध हो तो ज्ञानी पुरुष प्रवचन वत्सलता को अपनाते हुए ग्रन्थ का शोधन कर लें।[1]

यद्यपि जम्बूद्वीप में पद्मनन्दि ने अपना कोई समय नहीं दिया फिर भी त्रिलोकसार के कर्ता नेमिचन्द्र से वे अर्वाचीन हैं। कारण जम्बूद्वीप पण्णत्ति में त्रिलोकसार की अनेक गाथाएँ ज्यों-की-त्यों अपना ली गई हैं। आचार्य नेमिचन्द्र का समय विक्रम ११वीं शताब्दि है अतः निश्चित है कि पद्मनन्दि उनके बाद हुए हैं। इसलिए बारापुर में पैदा होने वाले पद्मनन्दि कुन्दकुन्द नहीं हो सकते।

इस प्रकार उपर्युक्त कथाओं के आधार पर हम कुन्दकुन्द के विषय में कोई प्रामाणिक जानकारी नहीं पाते। पट्टावलियों तथा इधर-उधर ग्रन्थों में कहीं-कहीं कुन्दकुन्द के गुरु का नामोल्लेख भी आता है। इतिहास के नाते उन नामों पर भी एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक है।

कुन्दकुन्द के गुरु नाम से तीन व्यक्ति मिलते हैं। एक तो भद्रबाहु श्रुतकेवली जिनका स्वयं कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वरचित बोधपाहुड के अन्त में उल्लेख किया है। दूसरा नन्दिसंघ की पट्टावलि में जिनचन्द्र को कुन्दकुन्द का गुरु बताया है तीसरे पंचास्तिकाय

---

१ सम्मद्दंसणसुद्धो कदवदकम्मो सुसीलसंपण्णो,
अणवरय दाणसीलो जिणसासण वच्छलो धीरो ॥१६५॥
णाणागुणगणकलिओ णरवइसंपूजिओ कलाकुसलो
बारायणयरपहू णरुत्तमो सत्तिभूपालो ॥१६६॥
पोक्खरणि वावि पउरे बहुभवणविभूसिदे परमरम्मे
णाणाजणसंकिण्णो धणधण्णसमाउले दिव्वे ॥१६७॥
सम्माइट्ठिजणोघे मुणिगणणिवहेहि मंडिए रम्मे
देसम्मि पारियत्ते जिणभवणविभूसिदे रम्मे ॥१६८॥
जंबुदीवस्स तहा पण्णत्ती बहुपदत्थसंजुत्ता
लिहिया संखेवेण बाराए अच्छमाणेण ॥१६९॥
छदुमत्थेण विरइय जं किं पि हवेज्ज पवयणविरुद्धं
सोधंतु सुगीदत्था पवयणवच्छल्लदाए ॥१७०॥

चन्द्रगुप्त मुनि विशाखाचार्य नाम से दशपूर्वियो मे प्रथम सर्वसघ के अधिपति हो गये। गुरु की आज्ञा से इनके साथ समस्त सघ दक्षिण देश के पुन्नाट नगर को चला गया।"

इस कथा से स्पष्ट है कि आचार्य भद्रबाहु दक्षिण की ओर नही गये। अतः दक्षिण देश मे पहुँचकर उनके शिष्य प्रशिष्यो द्वारा तत्व ज्ञान के प्रसार की बात पीछे रह जाती है। तत्व ज्ञान का प्रसार दक्षिण मे उनके शिष्य चन्द्रगुप्त ने अवश्य किया है क्योकि भद्रबाहु के बाद १२ वर्ष तक वे जीवित रहे थे। अत. दक्षिण की जनता किसी की ऋणी हो सकती है तो चन्द्रगुप्त की जिनका दूसरा नाम विशाखाचार्य था। यो विशाखाचार्य के बाद कुदकुद से पहले अनेक आचार्य हुए। पर दक्षिण मे आद्य तत्वज्ञान के प्रसार कर्ता विशाखाचार्य ही है। चूंकि कुदकुद भी दक्षिण के थे अत विशाखाचार्य के साक्षात् शिष्य न होने पर भी उनके ऋणी तो थे ही। क्योकि तत्वज्ञान की परपरा उन्हे विशाखाचार्य से ही प्राप्त हुई थी इसलिए अपने कथन की परपरा को विशाखाचार्य से जोडना कुदकुद का उपयुक्त और स्वाभाविक है।

अन्य शिलालेखो मे जहां भद्रबाहु के दक्षिण की ओर जाने का कथन है उनमे भी भद्रबाहु के तत्वज्ञान प्रसार की बात नही है। प्रत्युत श्रवणबेलगुल पहुँचते-पहुँचते उनका देहावसान हो गया था। अत न उनकी प्रसिद्धि ही हो सकी न वहाँ ज्ञान का प्रसार ही कर सके। वस्तुत दक्षिण मे उन्हे इतना अवकाश नही मिला कि वे कुछ मुमुक्षुओ का उपकार करते। दुर्भिक्ष के भीषण सकट की चिन्ता शारीरिक दुर्बलता आयु का क्षीण होने लगना ये सब ऐसे कारण हैं जिनसे वे धर्म प्रचार के लिए आगे नहीं बढ सके। किन्तु उनके बाद उनके शिष्य विशाखाचार्य, चन्द्रगुप्त ने यह कार्य पूर्ण किया।

भद्रबाहु के ये प्रधान एव साक्षात् शिष्य अपनी बहुश्रुतता, तपश्चरण तथा प्रभाव के कारण दाक्षिणात्य जनता मे अत्यन्त लोकप्रिय थे। यही कारण है कि भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त की समाधि का स्थान एक होने पर उस स्थान की प्रसिद्धि के ये कारण चन्द्रगुप्त थे भद्रबाहु नहीं। अर्थात् उस पर्वत का नाम चन्द्रगुप्त के नाम पर चन्द्रगिरि है भद्रगिरि या इसका कोई नाम नही है।

समयप्राभृत की प्रथम गाथा मे कुदकुद ने जो श्रुतकेवली का उल्लेख किया है उसका सम्बन्ध भी सामान्य श्रुतकेवली से है भद्रबाहु श्रुतकेवली से नही और यदि भद्रबाहु श्रुतकेवली से भी मान लिया जाय तब भी परम्परागत गुरू के नाते तो वह उल्लेख सर्वथा नही है। गाथा मे केवल इतना ही है—

"श्रुतकेवली कथित समय प्राभृत को मैं कहूँगा[1]।"

ये श्रुतकेवली भद्रबाहु हो या और कोई कुन्दकुन्द हो उससे मतलब नही। कुदकुद तो समय प्राभृत की नयप्रधान कथनी को श्रुत केवली से जोडना चाहते है। उनका विश्वास है कि व्यवहार और निश्चय के दोनो पक्ष श्रुतज्ञान के अवयव भूत हैं अतः नयप्रधान कथन के उद्गम स्थल श्रुतकेवली ही हो सकते हैं केवली नही, वे तो विश्व के साक्षी मात्र होने से उनके स्वरूप को जानते है[2]।

द्रव्यस्वभावप्रकाश नयचक्र के कर्ता माइल्लधवल ने अपने नयचक्र की परम्परा को श्रुतकेवली से ही जोडा है जैसा कि उनकी निम्न गाथा से स्पष्ट है—

"सुयकेवली हि कहिय सुअसमुद्द अमुदमयमाण।
बहुभगभगुरायविय विराजिय णमह णय चक्क ॥४२०॥

श्रुतकेवली द्वारा प्रतिपादित श्रुत समुद्र मे अमृत की तरह ज्ञान स्वरूप अनेक भगो से विराजित नयचक्र को नमस्कार करो।

अर्थात् समुद्र से जैसे अमृत निकला है वैसे ही श्रुत समुद्र से यह नयचक्र निकला है। अतः श्रुत की तरह यह नयचक्र भी श्रुत केवली प्रतिपादित ही समझना चाहिये।

यही अभिप्राय आचार्य कुन्दकुन्द का सुयकेवली भणिय, कहने मे है यदि कुन्दकुन्द ने [illegible] गुरु के नाते "श्रुतकेवली भणित" कहा है तो माइल्लधवल ने भी [illegible] भद्रबाहु को गुरु मानकर "श्रुतकेवलि कथितम्" कहा होगा। लेकिन ऐसा नहीं है।

माइल्लधवल ने "द्रव्यस्वभावप्रकाशनयचक्र" की रचना श्री कुन्दकुन्दाचार्य की [illegible] की है, अतः कुन्दकुन्दाचार्य के "सुयकेवली भणिय" के [illegible] उन्होंने इसी रूप मे समझा है जैसा कि उनकी ऊपर की गाथा [illegible] है।

---

1 "[illegible] मिणमो सुयकेवलीभणिदं"

2 "[illegible] श्रुतज्ञानावयवभूतयोर्व्यवहार [illegible] ज्ञानानि ॥
आ० ख्याति टी० गा० १४३

3 [illegible] स्वपरोपरागाय [illegible]......।

कोई विचित्र बात नहीं थी।

अनेक शिलालेखों में जो आचार्य परंपरा दी है उनमें भी चन्द्रगुप्त के बाद पद्मनन्दि का नाम आता है जैसा कि शक संवत् १०८५ के शिलालेख नंबर ४० से स्पष्ट है। उसमें निम्न प्रकार से आचार्यों का उल्लेख है—

गौतम आदि

भद्रबाहु

चन्द्रगुप्त

पद्मनन्दि कुन्दकुन्द इत्यादि।

यही क्रम शक संवत् १०५० के शिलालेख में है। इन उदाहरणों से यह फलित होता है कि जैन परंपरा में यह मान्यता भी रही है कि चन्द्रगुप्त (विशाखाचार्य) कुन्दकुन्द के परंपरागत गुरु थे अथवा आचार्य परिपाटी में वे समर्थ और प्रभावक आचार्य हुए उनमें चन्द्रगुप्त के बाद कुन्दकुन्द का ही नाम आता है अथवा कुन्दकुन्द की जो गुरु आम्नाय थी उसमें चन्द्रगुप्त विशाखाचार्य उस आम्नाय के प्रथम गुरु थे इसलिए श्रुत सागर का भद्रबाहु के शिष्य से विशाखाचार्य का अर्थग्रहण करना यों ही नहीं बल्कि ऐतिहासिक तथ्य है।

इन शिलालेखों से बोध पाहुड में अन्त की जो तीन गाथाएं हैं उनकी भी प्रतिध्वनि प्रतीत होती है। और उसी के अनुसार श्रुतसागर ने उनका अर्थ किया है। क्योंकि तीनों गाथाओं में पहले जिनवर शब्द का प्रयोग है उसके बाद जिन शब्द का उल्लेख है। जिनवर से भगवान महावीर लिए जा सकते हैं। जिन से गणधर का अर्थ लिया जा सकता है। क्योंकि गणधर ने ही भगवान की ग्रन्थ रचना करके शब्द विकार से परिणत किया था। उसको भद्रबाहु ने जाना और उनके शिष्य विशाखाचार्य ने कहा।

पं० कैलाशचन्द्रजी का कहना है कि पहली गाथा में कुन्दकुन्द ने अपने को जिस भद्रबाहु का शिष्य कहा है दूसरी गाथा में उन्हीं का जय जयकार किया है। पर मेरा मत इससे भिन्न है और वह यह कि कुन्दकुन्दाचार्य ने जिन विशाखाचार्य को पहली गाथा में स्मरण किया है दूसरी गाथा में उन्हीं का जय जयकार किया है। उनके शब्द हैं —

सुयणाणिभद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयओ

इस पद का समास इस प्रकार होगा।

श्रुतज्ञानिभद्रबाहोः गमकगुरुः भगवान्

अर्थात् श्रुतज्ञानी भद्रबाहु जिनके गमक गुरु हैं वे भगवान विशाखाचार्य जयवंत होवें। बहुव्रीहि समास करने से दोनों गाथाओं का सम्बन्ध ठीक बैठ जाता है।

यदि पहली गाथा में भद्रबाहु के शिष्य से मतलब कुन्दकुन्द माना जाए तो [illegible] कि जैसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है वैसा ही मैंने कहा है और यही बात ६१वीं गाथा में दुहराते हैं यह उचित नहीं जान पड़ता।

लिखने का स्रोत क्या है यह नही जान पडा इसलिए कुन्दकुन्द के साक्षात् गुरु कौन थे, इस पर कोई प्रकाश नही पडता।

कुन्दकुन्द के सम्बन्ध मे किंवदन्तियां

कुन्दकुन्द के सम्बन्ध मे अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। वे अर्वाचीन हैं या प्राचीन इसकी छानबीन मे न जाकर यहाँ केवल उनका दिग्दर्शन करा देना चाहते हैं। इन किंवदन्तियो मे कुछ उनके अनुकूल है कुछ प्रतिकूल, अत दोनो का ही उल्लेख कर देना आवश्यक है—

१ कुन्दकुन्द ने विदेह क्षेत्र मे जाकर सीमधर स्वामी के समवशरण मे साक्षात् उनके मुखारविन्द से दिव्यध्वनि श्रवण की थी। इसका विस्तार से उल्लेख हम कुन्दकुन्द के इतिवृत्त मे कर आये हैं।

२ इसके अतिरिक्त कुन्दकुन्द को चारणऋद्धि भी प्राप्त थी जिसके प्रभाव से वे पृथ्वी से चार अगुल ऊपर आकाश मे चलते थे।

३ कुन्दकुन्द स्वामी एक बार सीमधर स्वामी का तन्मयता से ध्यान कर रहे थे कि उस ध्यान के प्रभाव से बीच मे ही "सदर्मवृद्धिरस्तु" कहकर सीमधर स्वामी ने उन्हे आशीर्वाद दिया। समवशरण मे उपस्थित मुमुक्षुजनो को बडा आश्चर्य हुआ कि भगवान ने किसको और क्यो आशीर्वाद दिया। जिज्ञासा प्रकट करने पर भगवान ने बताया कि यह आशीर्वाद भरतक्षेत्र के पचमकाल के महान आचार्य कुन्दकुन्द को दिया गया है। यह सुनकर दो चारणमुनि जो कुन्दकुन्दाचार्य के किसी पूर्वजन्म के मित्र थे आकर उन्हे आकाश मार्ग से विदेह क्षेत्र मे ले गये। वहाँ वे सात दिन तक रहे भगवान का दिव्य उपदेश सुना तथा लौटते समय अनेक तीर्थों की यात्रा करते हुए भरत क्षेत्र मे लौट आये यहाँ उनके उपदेश से प्रभावित होकर सात सौ स्त्री-पुरुषो ने उनसे दीक्षा ग्रहण की।

समयसार के अन्य टीकाकारों ने भी कुन्दकुन्द के उक्त वाक्यों का ऐसा कोई अर्थ नहीं किया जिससे यह ज्ञात किया जा सके कि कुन्दकुन्द के भद्रबाहु परम्परागत गुरु थे। अमृतचन्द्र आचार्य ने केवल इतना ही लिखा है। अनादिनिधन श्रुत के द्वारा प्रकाशित होने के कारण तथा स्वयं अनुभव करने वाले श्रुतकेवली द्वारा कथित होने से प्रमाणता को प्राप्त[1] ।

जयसेनाचार्य की तात्पर्य टीका में इस प्रकार अर्थ किया गया है— श्रुत में केवली द्वारा कथित अथवा श्रुतकेवली गणधर कथित है।[2] इन व्याख्याओं में भद्रबाहु का नाम तक नहीं है-उनके गुरु कथन की चर्चा तो बहुत दूर है।

पं० जयचन्द्रजी ने भी अपनी हिन्दी टीका के भावार्थ में इस प्रकार लिखा है— श्रुतकेवली शब्द के अर्थ में तो श्रुत तो अनादि निधन प्रवाह रूप आगम है और केवली शब्द से सर्वज्ञ तथा परमागम को जानने वाले श्रुत केवली हैं उनसे समय प्राभृत की उत्पत्ति कही गई है। इससे ग्रन्थ की प्रामाणिकता दिखाई है अपनी बुद्धि से कल्पित होने का निषेध किया गया है।

इसमें भी श्रुत केवली का संकेत भद्रबाहु की तरफ नहीं बताया है। हमारा अनुमान है कि बोधपाहुड की उक्त तीनों ही गाथाएं उक्त तीनों टीकाकारों के दृष्टिगोचर हुई होंगी। लेकिन किसी की कल्पना भद्रबाहु को कुन्दकुन्द का गुरु बताने की तरफ नहीं गई इसलिए उन्होंने समयसार के श्रुतकेवली का अर्थ भद्रबाहु नहीं किया है। अतः समयसार के वाक्यों से भद्रबाहु का कुन्दकुन्द के गुरु होने का समर्थन किसी प्रकार नहीं होता।

कुन्दकुन्द के दूसरे गुरु का जिनचन्द्र के नाम से उल्लेख है। ये जिनचन्द्र नाम के कई आचार्य भट्टारक हो गये हैं पर कुन्दकुन्द से उनमें किसी का सम्बन्ध नहीं जुड़ता। केवल नन्दिसंघ की पट्टावलि ही इस कल्पना का आधार है। इसमें भद्रबाहु गुप्तिगुप्त माघनन्दि जिनचन्द्र और कुन्दकुन्द इस प्रकार आचार्य परम्परा दी है। लेकिन इस पट्टावलि की प्रामाणिकता में सन्देह है। अतः जिनचन्द्र को कुन्दकुन्द का गुरु मानने में कोई ठोस आधार नहीं है।

यही बात कुमारनन्दि सिद्धान्त देव के विषय में है जयसेन आचार्य ने पंचास्तिकाय की टीका के प्रारम्भ में 'कुमारनन्दि सिद्धान्तदेवशिष्य' कहकर कुन्दकुन्द को कुमारनन्दि का शिष्य तो बतला दिया है लेकिन किसी भी शिलालेख पट्टावलि या प्रशस्ति या दान पत्र में इसका उल्लेख नहीं मिलता। अतः उनके इस

---

१ अनादि निधनश्रुतप्रकाशित्वेन निखिलार्थसार्थसाक्षात्कारि केवलिप्रणीतत्वेन श्रुतकेवलिभिः स्वयमनुभवद्भिरभिहितत्वेन ।

२ श्रुत परमागम केवलिभिः सर्वज्ञैर्भणित श्रुतकेवलिभिः गणधरदेवै र्भणितम् ।

इस प्रकार उनके बारे मे अनेक किवदतियाँ प्रचलित हैं। यद्यपि इन उद्धरणो मे सब जगह पद्मनन्दि नाम ही प्रचलित हुआ है। पर ये पद्मनन्दि कुन्दकुन्द के अतिरिक्त और कोई नही है। कुन्दकुन्द की प्राय सभी घटनाओ से इनका साम्य है। लेकिन यह जो भी कुछ लिखा गया हे अत्यन्त द्वेष से लिखा गया है। उनके द्वेष का एक उदाहरण यह भी है कि उन्होने देवसेन के दर्शनसार ग्रन्थ को जिसमे काष्ठासघ की उत्पत्ति लिखी है खूब तोडा-मरोडा है। और मनमाने ढग से उसके कथन को अपने अनुकूल किया है।

कुन्दकुन्द की भक्ति मे जिन चमत्कारो का उल्लेख किया गया है उनमे भी कुछ बाते अतिशयोक्ति पूर्ण हो सकती है। द्वेष और अनुराग दोनो ही यथार्थता को नही देखने देते। पर किवदतियाँ अनुकूल हो या प्रतिकूल उनमे कुछ सार तो मिल ही जाता है। वादी और प्रतिवादी की साक्षियो मे से ही सचाई खोजी जाती है। कुन्दकुन्द ने सरस्वती को वाचालित किया और उससे अपने पक्ष की सचाई को कहलवाया यह सिद्ध है इसके साथ ही कुन्दकुन्द मे अन्तर्धान होने की शक्ति थी चाहे वह चारण ऋद्धि के कारण हो या पैरो मे औषधि का लेप करने के कारण हो। ये दोनो बातें कुन्दकुन्द के विरोधी सम्प्रदाय ने भी स्वीकार की है।

इसके अतिरिक्त किसी के व्यक्तित्व को लेकर अधिक किवदतियाँ स्तुतियाँ उस व्यक्तित्व की महत्ता की ही सूचक होती है। अत पीछे जो कुछ कहा गया है वह कुदकुद के परिचय और उनके व्यक्तित्व के लिए पर्याप्त है।

आध्यात्मिक क्षेत्र मे कुन्दकुन्द की देन

विशेषण आत्मा के स्वरूप को आच्छन्न करता है। यदि आत्मा को मुक्त माना जाता है तो उसे बद्ध पहले मानना होगा क्योंकि बन्धन के बिना मोक्ष नहीं होता। स्वभाव से अनन्त शक्तिमान आत्मा को बन्धन से मुक्त मानना उसकी सर्वशक्तिमत्ता का अपमान है प्रभुता के लिए कलंक है। वस्तुतः वह कभी बद्ध ही नहीं है तो मुक्त भी नहीं है। जिन सामाजिक दृष्टियों को लेकर हम आत्मा के नाना रूपों की कल्पना करते हैं। वे सब दृष्टियाँ अनित्य हैं कादाचित्क हैं अतः आत्मा के स्वरूप की नियामक नहीं हैं। अनियामक होने से उन्हें आत्मा का अपना कैसे कहा जा सकता है? करीष की अग्नि पलाश की अग्नि काष्ठ की अग्नि अग्नि के स्वरूप नहीं है। यदि अग्नि करीष की होती है तो फिर वह तृण अथवा पलाश आदि की अग्नि अग्नि नहीं कहलायगी। और यदि अग्नि तृण पलाशादि की होती है तो वह करीष की अग्नि अग्नि नहीं कहलायगी। इसलिए अग्नि को समझने के लिए यह आवश्यक है कि अग्नि के स्वभाव को समझा जाय जो ध्रुव और त्रैकालिक है। करीष तृण पलाशादि अग्नि के ध्रुव एवं त्रैकालिक स्वभाव नहीं हैं क्योंकि अग्नि करीष को जलाकर तृण को और तृण को जलाकर पलाश को भी जला सकती है। इसलिए अग्नि का ध्रुव और त्रैकालिक स्वभाव उसकी उष्णता है। करीष की आग जलकर तृण की बन जायगी पर उष्णता में कोई अन्तर नहीं आयगा। क्योंकि उष्णता के साथ अग्नि का अस्तित्व है करीष तृण आदि के साथ अग्नि का अस्तित्व नहीं है। इसी प्रकार बंधन या मुक्ति संसार या मोक्ष प्रमत्त भाव या अप्रमत्त भाव आत्मा के स्वरूप नहीं हैं क्योंकि ये त्रैकालिक ध्रुव स्वभाव नहीं हैं। बंध या मुक्ति में से यदि किसी एक को भी आत्मा का स्वभाव माना जाएगा तो बंधहीन अवस्था में या मुक्ति विहीन दशा में आत्मा का अभाव हो जाएगा। जब कि आत्मा दोनों ही अवस्थाओं में है। इसलिए आत्मा को समझने के लिए उसकी इन कादाचित्क दशाओं को छोड़कर [illegible] त्रैकालिक ध्रुव स्वभाव पर ध्यान देना चाहिए वह स्वभाव उसका ज्ञायक स्वभाव है जो प्रत्येक दशा और उसकी परिवर्तित अवस्थाओं में विद्यमान रहता है। अवस्थाओं के परिवर्तन से उसमें परिवर्तन नहीं होता। इसलिए तो कुन्दकुन्द ने अपने मंगलाचरण में ध्रुव अचल और अनुपम गति को प्राप्त सिद्धों को नमस्कार किया है। चूंकि द्रव्य बिना पर्याय के नहीं रहता इसलिए आचार्य को सिद्ध पर्याय को नमस्कार करना पड़ा है अन्यथा उनका अभिप्राय तो ध्रुव स्वभाव को नमस्कार करना है।

रहा ध्रुव स्वभाव को समझने का क्षयोपशम भी नही है पर इस अविकसित दशा का अन्तत उत्तरदायित्व इस आत्मा पर ही है । कीडे मकोडो का जन्म लेकर कोई आत्मा को अनुभव मे ला सके यह सभव नही है। इस तरह कीट पतग आदि की पर्यायें सम्यग्दर्शन के आविर्भाव मे बाधक अवश्य है। पर इस पर्याय तक पहुँचने का उत्तरदायित्व इस आत्मा का अपना ही है ।

यहाँ यह पूछा जा सकता है कि मनुष्य जैसी विकसित दशा से कीट पतगादि अविकसित दशा मे आने का उत्तरदायित्व तो आत्मा का हो सकता है पर जो अनादिकाल से ही निगोद जैसी अविकसित दशा मे पडा है उसका उत्तरदायित्व आत्मा पर कैसे जा सकता है ?

इसका उत्तर यह है कि उक्त दशा से निकलने के बाद भी इसे अपने ध्रुव स्वभाव के आलम्बन के लिए अपने ऊपर ही निर्भर रहना पडेगा यदि ऐसा न हो तो सभी [illegible] दशा को प्राप्त जीव सिद्धि को प्राप्त हो जायेंगे ।

कुदकुद का कहना है कि कार्य के उत्पाद मे उपादान और निमित्त दोनो ही [illegible] आवश्यक है किन्तु निमित्त पर द्रव्य है और उपादान स्वद्रव्य है। स्वद्रव्य पर हम अपने अधिकार का दावा कर सकते हैं पर द्रव्य पर नही। अत जिस पर अपना अधिकार है उस [illegible] रखना आवश्यक है उसकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिए और जिस पर अपना अधिकार नही है उसकी मात्र प्रतीक्षा करना चाहिए उसके लिए [illegible] प्रयत्न नही करना चाहिए। उपादान का ग्रहण और निमित्त के त्याग का इतना ही रहस्य है ।

कुदकुद निमित्त की अकिचित्करता नही बतलाते किन्तु निमित्त सापेक्ष उपादान की सार्थकता पर जोर देते हैं। मात्र उपादान ही करता है निमित्त कुछ नही [illegible] समयसार के कथनो से यह निष्कर्ष निकालना कुदकुद के साथ छल करना है [illegible] पाठको से पहले ही निवेदन कर चुके हैं कि यदि कहीं कथन [illegible] नहीं ग्रहण करना चाहिए'। यदि कुदकुद निमित्त की अकि[illegible] तो उन्हे यह नहीं कहना पडता कि "जैसे शुद्ध स्फटिक मणि स्वय [illegible] नहीं करती किन्तु अन्य रक्त आदि द्रव्यो से वह लाल पीली [illegible] शुद्ध स्वभावी ज्ञानी जीव भी स्वय राग द्वेष रूप परिणमन नही करता

मानना ये दोनो बातें एक साथ नही चल सकती। आत्मा के विकारी भावो का उत्तर-दायित्व दोनो मे से किसी एक को लेना ही होगा। यदि आत्मा के राग द्वेषादिभाव जिन्हे कुन्दकुन्द ने अध्यवसान कहा है पर द्रव्य के निमित्त से नही होते तो आत्मा स्वय उनका कर्त्ता अनिवार्यत. हो जायेगा। ऐसी स्थिति मे कुन्दकुन्द के इस कथन से कि "ज्ञानी राग द्वेष मोह अथवा कषाय भाव को स्वय नही करता इसलिए वह उन भावो का कर्त्ता नही है' विरोध हो जाएगा इस विरोध को मिटाने के लिए यदि आत्मा को उन भावो का अकर्त्ता माना जाएगा तो फिर निमित्त को अगत्या उन भावो का कर्त्ता मानना पड़ेगा। इस प्रकार निमित्त के कर्तृत्व से किसी प्रकार नही हटा जा सकता कुन्दकुन्द ने निमित्त के कर्तृत्व को अस्वीकार नही किया है किन्तु उपादान को छोड़कर मात्र निमित्ताधीन दृष्टि का निषेध किया है।"

हमे यह न भूलना चाहिए कि मोक्ष एक पुरुषार्थ है और साथ ही अपवर्ग भी। पुरुषार्थ से अभिप्राय आत्मा का वह प्रयोजनभूत कार्य है और अपवर्ग से मतलब धर्म, अर्थ, कामरूप वर्गो से सर्वथा परे है। इन वर्गो को हम जिस प्रकार प्रधान दृष्टि से देखते, सिखाते और करते हैं उस तरह मोक्ष का आचरण नही करना चाहिए। उसमे स्वाश्रित प्रधान दृष्टि की आवश्यकता है। वस्तु स्वभाव के अनुसार निमित्त की अपेक्षा रहते हुए भी उसके प्रति गौण दृष्टि है। उस गौण दृष्टि के कारण ही कुन्दकुन्द

सके तो परमभाव में पहुँचकर उसकी अनुभूति भी सरलता से हो सकेगी।

इस संसारी प्राणी ने शुद्ध चैतन्य स्वभाव की आज तक कभी प्रतीति ही नहीं की। अरहन्त सिद्ध को भी समझा तो एक शुद्ध पर्याय के आवरण में ही उन्हें देखा पर सभी प्रकार के पर्यायों के आवरणों को भेदकर एक अखण्ड शुद्ध चिदाकार भी कोई वस्तु है इस स्वभाव दृष्टि को नहीं अपनाया। आचार्य कुन्दकुन्द ने ही यह दृष्टि दी। अतः आध्यात्मिक क्षेत्र में यह इनकी बहुत बड़ी देन है।

निमित्त को पर द्रव्य सिद्ध कर उपादान की ओर दृष्टि ले जाने के लिए एक प्रशस्त मार्ग का उपक्रम भी कुन्दकुन्द की अपनी देन है।

कुन्दकुन्द ने आत्मा के अकर्तृत्व भाव का भी जिस कुशलता के साथ चित्रित किया है वह विषय भी उनका अभूतपूर्व है। उनका एक सीधा-सादा वाक्य है — 'आत्मा कर्म और कर्म के परिणाम को तथा नो-कर्म और उसके परिणाम को नहीं करता है ऐसा जो जानता है वह ज्ञानी है'[1]। लेकिन इस कथन में कितनी विप्रतिपत्तियाँ हैं कुन्दकुन्द इनको जानते हैं। यदि आत्मा कर्म नहीं करता तो अष्टविध कर्म और शरीरादि नो-कर्म आत्मा के साथ किसने सम्बद्ध किये हैं। कर्म नो-कर्म स्वयं जड़ है अतः उन्हें यह ज्ञान कहाँ कि हम आत्मा से चिपक जावें। ईश्वर नाम की किसी अन्य शक्ति ने यह सब किया हो जैन शास्त्र यह स्वीकार नहीं करता और आत्मा स्वयं करता नहीं है तो ये आये कहाँ से? इसके अतिरिक्त यदि आत्मा पर द्रव्य का कर्ता नहीं है तो किसी के धन चुराने का दण्ड चोर को नहीं मिलना चाहिए किसी स्त्री के शीलभ्रष्ट करने वाले को अपराधी व्यभिचारी को नहीं मानना चाहिए'[2]। इस तरह लोक व्यवस्था तो दूर रही धर्मनीति व्यवस्था भी बिगड़ जायगी। साथ ही सांख्य जिस प्रकार पुरुष को कूटस्थ नित्य अकर्ता मानता है जैनों के यहाँ भी आत्मा उसी प्रकार अकर्ता हो जायगी। सांख्य प्रकृति के द्वारा कर्तृत्व की कल्पना करता है जैनों के यहाँ कर्म ही सबका कर्ता हो जायगा। इस प्रकार सांख्य उपदेश की ही प्रवृत्ति हो जायगी'[3]।

इन सब विप्रतिपत्तियों को बचाते हुए आत्मा के अकर्तृत्व को बड़े ही सुन्दर ढंग से उपस्थित किया है। छह द्रव्यों में धर्म अधर्म आकाश काल, ये चार द्रव्य नित्य

---

१ कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं,
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥७५॥ स॰ सा॰

२ पुरुसित्थियाहिलासी, इत्थीकम्मं च पुरिसमहिलसदि
एसा आयरियपरंपरागदा एरिसी दु सुदी ॥३३६॥ स॰ सा॰
तम्हा ण कोवि जीवो अबंभचारी दु अम्ह उवदेसे
जम्हा कम्मं चेव हि कम्मं अहिलसदि इदि भणियं ॥३३७॥ स॰ सा॰

३ एवं संखुवएसं, जे दु परूविंति एरिसं समणा
तेसिं पयडी कुव्वइ अप्पा य अकारया सव्वे ॥ ३४०॥

कुन्दकुन्द जिन परिस्थितियो मे पैदा हुए उसका प्रभाव उन पर पडना आवश्यक था। अत उसी छाया मे उन्होने अपने ग्रन्थो का सृजन किया। एक तो उस समय पारस्परिक सघर्षो के कारण राज्यो मे सुस्थिरता नही थी। वल पराक्रम और पुरुषार्थ को सर्वोपरि मानकर प्रत्येक राजा दूसरे पर अपना वर्चस्व स्थापित करना चाहता था। विदेशियो का आना पोरस और चन्द्रगुप्त के समय से ही प्रारम्भ हो गया था। वे युद्ध करते और समझौते के चिन्ह स्वरूप कुछ वहुमूल्य वस्तुओ का आदान-प्रदान करके चले जाते। देश के अतरग मे उसके पहले से ही मारकाट चली आती थी। मगध, कौशल, वत्स और अवन्ति के राज्य अपना-अपना प्रभाव जमाने मे लगे हुए थे। मगध के सम्राट् विवमार ने कौशल राज्य से अपना विवाह सम्बन्ध स्थापित किया वैशाली के लिच्छिवि सामन्तो की पुत्रियो से भी विवाह किया किन्तु विम्वसार का पुत्र अजातशत्रु अपने पिता की हत्या करने पर तुला हुआ था और पिता को मारकर वह स्वय राज सिहासन पर वैठना चाहता था। किसी प्रकार वह अपने प्रयत्नो मे सफल हुआ। पिता को कारागार मे वद कर पर्याप्त यातनाएँ देने के पश्चात् अजातशत्रु ने उसका वध कर दिया और स्वय मगध का राजा वन गया।

कौशल के अधिपति प्रसेनजित से अपने वहनोई की हत्या नही देखी गई। फलस्वरूप प्रसेनजित और अजातशत्रु मे युद्ध हुआ। दोनो ओर की प्रजा के क्षय के वाद परस्पर समझौते के फल-स्वरूप काशी का राज्य अजातशत्रु को मिल गया। लेकिन अजातशत्रु की महत्वाकाक्षा इससे भी शात नही हुई उसने लिच्छिवियो को परास्त कर उनका राज्य छीना, वृज्जियो से युद्ध कर उनकी मातृभूमि पर भी अधिकार किया इसके वाद शिशुनागवशियो ने मगध के राज्य को विध्वस किया तो वाद मे नदवश ने उस पर अपना अधिपत्य जमाया। नन्दवश का विनाश चन्द्रगुप्त ने चाणक्य की सहायता से किया। परस्पर मे घात, प्रतिघात, दाव-पेच खूव चले। इन राज्यो मे गुप्तचरो का जाल सा वना रहता था। इन्ही दिनो सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया जिसमे अस्सी हजार भारतीयो का वध किया गया नगरो को लूटा गया तथा भारतीयो को गुलाम वनाकर वेचा गया। नन्द के अपदस्थ होने पर चन्द्रगुप्त ने राज्यारोहण किया और भारत के अनेक प्रदेशो पर अधिकार कर इसने अपने राज्य का विस्तार किया। इन्ही दिनो सिकन्दर के सेनापति सेल्यूकस ने भारत पर आक्रमण किया यद्यपि यह सिकन्दर की तरह लूट और वध नही कर सका फिर भी राजनैतिक अस्थिरता का वातावरण उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त था। चन्द्रगुप्त के वाद कुछ दिन तक (लगभग २५ वर्ष वाद) विन्दुसार ने राज्य किया उसके वाद अशोक गद्दी पर बैठा। अशोक ने कलिंग पर आक्रमण कर भीषण रक्तपात किया। यह युद्ध अत्यन्त भयकर था। स्वय अशोक भी इस नरहत्या से कपित हो उठा था।

अशोक की मृत्यु के वाद यूनानियो के आक्रमण फिर प्रारम्भ हो गये यूनान के तत्कालीन राजा डिमिट्रियस ने भारत पर भीषण आक्रमण किया और धीरे-धीरे

युद्ध सैनिक करते हैं, राजा नही पर लोग कहते हैं कि राजा युद्ध कर रहा है क्योकि राजा उस युद्ध का कारण है। उसी प्रकार कर्मों के आस्रव मे जीव कारण है यह देखकर जीव कर्मो का करता है ऐसा लोग कहते हैं वास्तव मे जीव कर्म का कर्ता नही है।

इन उदाहरणो से स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द का युग युद्धो की परम्परा लेकर आया था। राजसत्ताओ का उन्माद विस्तारवाद मे चरितार्थ होता था। प्रत्येक राजा अधिक मे अधिक भूमि का अधिपति वनना चाहता था। इसके लिए वह किसी भी प्रकार के नर-सहार मे नहीं हिचकता था। विजेताओ द्वारा कीर्ति स्तम्भ खडे करने की प्रथा थी। उन स्तम्भो पर उनकी दिग्विजयो का वर्णन होता था। विजित देशो की लम्बी सूची उत्कीर्ण की जाती थी और उससे अपनी प्रतिष्ठा और वडप्पन को सदा स्थिर रखने का प्रयत्न किया जाता था।

इस विजय के उपलक्ष मे अश्वमेघादि यज्ञ भी किये जाते थे जिसमे अगणित जीवो की हिंसा होती थी। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी मे तत्कालीन राजा पुष्यमित्र ने इस प्रकार के दो अश्वमेघ यज्ञ किये थे। यह राजा ब्राह्मण था। इसके राज्यकाल मे ब्राह्मण धर्म को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला। वैदिक यज्ञ और क्रियाकाण्ड जो वौद्ध धर्म के प्रभाव से किसी तरह गतिहीन हो चुके थे पुन प्रभाव मे आ गये और जन-साधारण मे इसका प्रचार हो गया। इन कर्मकाण्डो को धार्मिक रूप देने के लिए मनुस्मृति के नाम से मानव धर्मशास्त्र की रचना हुई श्राद्ध वलि जैसे प्रत्येक सामाजिक कार्य को धर्म कानून का रूप दिया गया। और इनके न करने वालो को अनेक प्रकार के पापो का भय दिलाया गया। परिणाम यह हुआ कि समाज मे क्रियाकाण्ड का इतना रूप वढ गया कि वास्तविक धर्म की दृष्टि को जनता ने भुला दिया। क्रियाकाण्ड के अतिरिक्त धर्म का सम्बन्ध आत्मा से भी है। इसकी तरफ किसी का ध्यान नही था। ध्यान और योग का स्थान केवल मन्दिर और मूर्तियो ने ले लिया था और उनकी सजावट मे ही राजकीय तथा सामाजिक सम्पत्ति का उपयोग होने लगा था।

भोगलिप्सा मे जीवन की समाप्ति

विजय के वाद विजेता राष्ट्रो मे यदि कोई प्राथमिक परिवर्तन होता है तो वह यह कि उस राष्ट्र की प्रजा अपने को कृतकृत्य समझ भोग विलास और आनन्द की तरफ मुड जाती है। विजय का आनन्द इसी रूप मे प्रकट होता है। युद्ध के लिये कठोर श्रम करने वाले युद्ध की सफलता के वाद विश्राम और विलास ही चाहेगे। अत जो राष्ट्र विजय प्राप्त करते थे उनमे भोग लिप्सा का पैदा होना स्वाभाविक था। प्राचीन काल के मन्दिरो, स्तूपो आदि पर जहा मानव जीवन के विविध दृश्य अकित किये गये है वही सामाजिक सुख और आनन्द विलास के चित्र भी देखने में आते हैं। इस प्रकार के चित्र मनुष्य की भोग लिप्सा के ही परिणाम हो सकते हैं।

लिए करता है। कर्मक्षय के लिए नही।

अपने शीलपाहुड मे जो समयसार से पहले की रचना है कुन्दकुन्द ने विषय-वासनाओ के विरुद्ध पर्याप्त कहा है वे लिखते है—

"विषय का लोभी प्राणी विष देने वाले की तरह ही है जो सभी स्थावर जगम जीवो की हिंसा करती है। विषय विष बडा भयकर होता है। विष वेदना से आहत प्राणी एक ही जन्म मे दुख उठाता है किन्तु विषय वेदना से पीडित व्यक्ति जन्म-जन्मान्तर मे दुख उठाता है। विषयासक्त जीव नरको मे वेदना पाता है। तिर्यन्च और मनुष्यो मे दुख उठाता है। देवयोनि मे भी दुर्भाग्य को प्राप्त करता है। भूसे को कूटने मे मनुष्यो को कोई सार वस्तु हाथ नही लगती अत तप शील सयुक्त कुशल पुरुष विष की तरह विषय रूप खल को फेक देते हैं। कुत्सित आचरणो मे घूमते रहते हैं। विषयो मे राग तथा मोह मे कर्मग्रन्थि दृढ होती है किन्तु तप सयमशील गुण वाले कृती पुरुष उस ग्रन्थि को छोड देते हैं।[1] इन प्रकरणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुन्दकुन्द के सामने ऐसी परिस्थिति रही है जिसमे उन्हे समयसार की रचना आवश्यक हो गई थी। विजयी राजाओ का उन्माद यज्ञो की हिंसा और भक्ति के आवरण मे भोग-विलास की पराकाष्ठा ने कुन्दकुन्द के मानस को झकझोर डाला था उसके प्रतिकार के लिए आध्यात्मिक रचना करने के सिवा उनके सामने कोई चारा नही था।

स्वय जैनो मे कुछ व्यक्तियो का ऐसा वर्ग भी था जिनमे भक्ति के नाम पर भोग विलास ने तो घर नही किया लेकिन भक्ति की प्रचुरता उनके जीवन मे इतनी बढ गई थी कि वे ज्ञान और वैराग्य की ओर देख भी नही सकते थे। कुन्दकुन्द को भक्ति की धार्मिकता मे कोई इनकार नही था। किन्तु वे इसे प्रशस्त राग से अधिक

---

१ जह विसयलुद्धविसदो तह थावर जगमाण घोराणं।
सव्वेसिं पि विणासदि विसय विसंदारुण होई ॥२१॥
वारि एक्कम्मि जम्मे मरिज्ज विसवेयणाहदो जीवो
विसयविस परिहया णं भमंति संसारकांतारे ॥२२॥
णरएसु वेयणाओ तिरिक्खए माणुएसु दुक्खाइ।
देवेसु वि दोहग्ग लहंति विसयासया जीवा ॥२३॥
तुसधम्मंतबलेण य जह दव्वं ण हि णराण गच्छेदि,
तवसीलमंत कुसली खवंति विसयं विसय व खलं ॥२४॥
[illegible] कुसमय मूढेहि विसयलोलेहि
[illegible] अरयघरट्टं व भूदेहि ॥२५॥
[illegible] कम्मगंठी [illegible] विसयराग रंगेहि
[illegible] तवसंजम सीलय गुणेण ॥२६॥ शी० प्रा०

ही है।"[1]

कुन्दकुन्द के इन सब वक्तव्यो से यह सन्देह नही रहता कि उस समय भौतिकवाद का अत्यधिक प्रचार हो गया था। ज्ञानयोग के अभाव मे कर्मयोग की विरलता और भक्तियोग की बहुलता ने जनता को मार्ग भ्रष्ट कर दिया था अत मार्गदर्शन के लिये कुन्दकुन्द आगे-आगे आये। और उन्होने समयसार की रचना की। जहाँ तक उपनिषदो का सम्बन्ध है उनमे से अधिकाश विष्णु, शिव शक्ति की उपासना पर ही जोर देती है। किन्ही मे योग की चर्चा है बहुत थोडी ऐसी उपनिषदे है जिनमे जीव और ब्रह्म की चर्चा है और जिन्हे शुद्ध अध्यात्म नाम से पुकारा जा सकता है। इन उपनिषदो के निर्माणकाल मे भी विवाद है। फिर भी यदि ये प्राचीन हो तब भी यह तो मानना पडेगा कि इनका प्रचार और प्रसार श्री शकराचार्य के प्रयत्नो से हुआ है। शकराचार्य सातवी शताब्दी के विद्वान् है। वेदान्त को आध्यात्मिक जगत मे जो प्रतिष्ठा मिली उसका श्रेय आचार्य शकर को है। जब वेदान्त का प्रचार हुआ और जनता उधर आकर्षित हुई तब अनेक विशिष्ट आचार्य हुए और उन्होने वेदान्त का प्रतिपादन अपने-अपने दृष्टिकोण से किया। इन दृष्टिकोणो मे विशिष्टद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि अनेक अद्वैत सिद्धान्त हैं। वेदान्त प्रसिद्ध आचार्य भास्कर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क, श्रीकण्ठ, श्रीपति, वल्लभ विज्ञानभिक्षु हुए परन्तु सबसे पहले उपनिषदो का सन्देश व्यापक रूप मे शकराचार्य के द्वारा मिला। कुन्दकुन्द का समय जैसा कि ऐतिहासिक तथ्यो से प्रकट है शकराचार्य से पर्याप्त प्राचीन हैं अत विक्रमीय शतको मे सर्वप्रथम अध्यात्म का अलख जगाने वाले आचार्य कुन्दकुन्द हुए है। हमारा अनुमान है कि आचार्य शकर को उपनिषदो के प्रचार की प्रेरणा कुन्दकुन्द की इन रचनाओ से मिली होगी। जो विद्वान ऐसा कहते है कि कुन्दकुन्द ने समयसार को वेदान्त के साचे मे ढाला है उनसे भी यही सिद्ध होता है कि दोनो मे कुछ साम्य होने के कारण शकर के सामने कुन्दकुन्द के आध्यात्मिक सिद्धान्त सामने अवश्य रहे है। अस्तु इस विषय मे [illegible] इतना तो निर्विवाद कहना ही है कि भक्ति आदि की आड मे भौतिकता को प्रश्रय देने वाले [illegible] को अध्यात्म का सन्देश देने वाले आचार्य कुन्दकुन्द ही उस जमाने मे [illegible]।

कुछ नहीं समझते थे। साथ ही यह भी कहते थे कि यह साक्षात् मुक्ति का कारण नहीं है। प्रत्युत इससे बन्ध ही होता है। बेड़ियाँ लोहे की न सही सोने की सही पर मनुष्य की परतन्त्रता का कारण है ही।[1] कुन्दकुन्दकृत पञ्चास्तिकाय की टीका में केवल भक्तिप्रधान जीव को अमृतचन्द्र आचार्य ने अज्ञानी बतलाया है वे लिखते हैं— यह प्रशस्त राग स्थूल दृष्टि से केवल मात्र भक्ति ही के करने वाले अज्ञानी जीव के होता है और कभी उस ज्ञानी जीव के भी होता है जो ऊपर (ज्ञान की) की भूमिका में नहीं पहुँच सका है तथा अयोग्य स्थान में राग भी नहीं करना चाहता अथवा विषयानुराग रूप ज्वर में बचना चाहता है।[2]

इसलिए आचार्य कुन्दकुन्द सभी प्रकार के कर्मों को चाहे वे शुभ हों या अशुभ हों मुमुक्षु के लिए निषिद्ध ठहराते हैं। वे लिखते हैं— अशुभ कर्म कुशील है और शुभ कर्म सुशील है ऐसी मान्यता रखने वाले बताएँ कि संसार ही जिसका फल है ऐसा शुभकर्म भी सुशील कर्म कहा जा सकता है।[3] जैसे कोई पुरुष किसी मनुष्य को कुत्सित स्वभाव वाला जानकर उसके साथ संसर्ग तथा राग करना छोड़ देता है उसी प्रकार कर्मों को कुत्सित स्वभाव को जानकर ज्ञानी पुरुष उनका संसर्ग छोड़ देता है।[4] कर्म में आसक्ति रखने वाला जीव संसार में बँधता है और अनासक्ति से छुटकारा प्राप्त होता है। इसलिए हे आत्मन्! तू किसी कर्म में अनुराग मत कर ऐसा जिनका उपदेश है।

कुन्दकुन्द के इन ही वाक्यों का हृदय प्रकट करते हुए अमृतचन्द्र आचार्य कहते हैं—

सर्वज्ञ ने सभी प्रकार के कर्मों को समान रूप से बन्ध का कारण बतलाया है इसलिए सभी प्रकार का कर्म करना निषिद्ध है। मोक्ष का कारण केवल एक ज्ञान

---

१ अरहंत सिद्ध साहु भत्ती धम्मम्मि जा य खलु चेट्ठा।
अणुगमणं पि गुरूणं पसत्थ रागो त्ति वुच्चंति ॥ पा० का०
सोवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥१४६॥ स० सा०

२ अयं हि स्थूललक्ष्यतया केवलभक्तिप्रधानस्याज्ञानिनो भवति,
उपरितनभूमिकायामलब्धास्पदस्यास्थानरागनिषेधार्थं तीव्ररागज्वरविनोदार्थं
वा कदाचिज्ज्ञानिनोऽपि भवति।

३ कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥१४५॥ समय० सार

४ जह णाम कोवि पुरिसो कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता।
वज्जेदि तेण समयं संसग्गं रायकरणं च ॥१४८॥ समयसार
एमेव कम्मपयडी सीलसहावं च कुच्छिदं णाउं।
वज्जंति परिहरंति य तस्संसग्गं सहावरया ॥१४९॥ स० सा०

"प्रवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णा द्विजातय
निवृत्ते भैरवीचक्रे सर्ववर्णा. पृथक्-पृथक् ।

इस भैरवीचक्र की आवश्यकता इसलिए हुई कि उस समय चाहे जिस वर्ण की स्त्री के साथ सभोग किया जा सके। वर्णाश्रम धर्म का प्रचार पहले से चला आ रहा था। चातुर्वर्ण्य सबधी नियम कठोर हो गये थे। अत वर्णसकरता पर विशेष ध्यान दिया जाता था। बौद्धधर्म मे जब वज्रयान घुसा तो हठयोग के आधार पर प्रत्येक स्त्री के साथ मैथुन को उपयुक्त माना गया। लेकिन वर्णाश्रम की कठोरता के कारण ऐसा करना सरल नही था अत एक भैरवी चक्र की कल्पना की गई और यह कहा गया जिस स्त्री के ऊपर यह चक्र घुमा दिया जाय वह उस समय द्विजातीय हो ही जाती है और द्विजाति का द्विजाति के साथ मैथुन करना वर्जित नही है।

सारा जगत् वासनाओ से वैसे ही अभिभूत है और यदि उन्हे धर्म के नाम पर उचित कहा जाय तो उसके प्रचलन मे देरी नही लगती। हठयोग के नाम पर जब मैथुन का प्रचार हुआ तो प्रजा मे स्वच्छन्दता होना स्वाभाविक था और उससे जाति सकर सन्तान की उत्पत्ति भी अस्वाभाविक नही थी। सभवत इन्द्रनन्दि ने "नीतिसार" मे इसी स्वच्छन्दता और जातिसकरता की ओर सकेत किया है।

मैथुन ही नहीं प्रत्युत चातुर्याम व्रत जो पुरातन काल मे चले आते थे उनका विपरीत आचरण करना भी बुद्ध का उपदेश माना गया और बौद्ध साहित्य मे भी उसे स्थान मिला। वाममार्गियो का कहना था कि जितने भी बुद्ध हुए है, अथवा होगे उन सबका उपदेश है—

"प्राणिनस्त्वया घात्या वक्तव्य च मृषावच ,
अदत्त च त्वया ग्राह्य सेवन योषितामपि
एषो हि सर्वबुद्धाना समय परमशाश्वत ।"

अर्थात् प्राणियो को मारना चाहिए, झूठ बोलना चाहिए, चोरी करना चाहिए तथा स्त्रियो का सेवन करना चाहिए। यह सभी बुद्धो का परम शाश्वत मत है।

[illegible] बुद्ध के नाम पर जब ये उपदेश प्रचारित किये गए तो सारा नैतिक [illegible] छिन्न भिन्न हो गया। जो लोग इस धर्म के अनुयायी थे वे तो ये सब करते ही [illegible] इस धर्म मे नही था वे भी चोरी छिपे इन अनुयायियो का [illegible]। धर्म के नाम पर अनायास ही भोग-विलास के साधन मिलने पर कौन [illegible] लाभ न उठाता। अत अपना धर्म परिवर्तन न करके भी [illegible] की ओर आकर्षित हुए।

की बजाहिक तथा दार्शनिक कार्यों में उपेक्षा होने लगी थी, निरीह साधुओं में विरागता की जगह जिन पर की सासुविक वृत्ति ने घर कर लिया था। इस स्थिति को उस समय के महापुरुषों ने समझा और प्रजा में राग आदि के स्थान में कुल आदि की स्थापना की। आचार्य इन्द्रनन्दि ने अपने नीतिसार ग्रन्थ में इसका इस प्रकार उल्लेख किया है —

> भरते पञ्चमकाले जाता मथाद्रुत ।
> बौद्ध शासन नाम विलिखा कारणम् ॥
> स्वर्ग गते विक्रमार्के भद्रबाहौ च योगिनि ।
> प्रजा स्वच्छन्दचारिण्या बभूवु पापमोहिता ॥
> यात्मा ब्रह्मनिष्ठाना परमार्थविदामपि ।
> स्वपराध्यवसायीत्वमाविरासीन्निरन्तरम् ॥
> तदा सर्वोपकाराय जातिसंकरभीरुभिः ।
> महर्द्धिकै परचक्रे ग्रामाद्यभिधया कुलम् ॥

इन श्लोकों में स्पष्ट उल्लेख है कि पंचम काल में भरत क्षेत्र में भगवान महावीर का शासन अनेक संघ गच्छादि में बंट गया था। भद्रबाहु योगी और विक्रमादित्य राजा के स्वर्गस्थ हो जाने पर प्रजा पाप में मोहित होकर स्वच्छन्द विचरने लगी। आत्मनिष्ठ तथा परमार्थ का ज्ञान धारी साधुओं में भी स्वपर की अध्यवसायिता का लोप सा हो गया था। उस समय प्रजा में जाति संकरता एक न हो जाय इस भय से सबके उपकार के लिए महापुरुषों ने ग्रामादि के नाम से कुल गोत्रों की रचना की।

ऐसा प्रतीत होता है अतः में चौरासी जातियों के निर्माण का उपक्रम उसी समय से प्रारम्भ हुआ। जातियाँ पहले भी होंगी पर जब उनमें शिथिलता आ गई तो उनकी जगह नए नाम निर्माण किए गए। खण्डेलवाल पद्मावती पुरवाल बघेरवाल आदि जातियों के नाम स्थलों आदि नगरियों के नाम पर ही रखे गए होंगे।

प्रजा की इस स्वच्छन्दता का कारण तत्कालीन बौद्ध प्रवृत्तियाँ थीं। बौद्धों का महायान सम्प्रदाय जिस काल में बौद्ध आचार्य नागार्जुन ने प्रवर्तित कर लिया था उस समय विशेष प्रभाव में था। यह महायान सम्प्रदाय ही था जिसमें धर्म के अन्दर मन्त्रयान, वज्रयान और तन्त्रयान जैसी कल्पनाओं का स्थान मिला और इसी से वाममार्गियों का प्रचार हुआ। अमर्यादित भोग आदि-आदि अनेक धारणाओं की कल्पना की गई और इनके नाम पर भैरवी चक्र का निर्माण हुआ। इसी भैरवी चक्र को लेकर यह कहा जाता था कि भैरवी चक्र के प्रवृत्त होने पर सभी वर्ण द्विजाति हैं और भैरवी चक्र के निवृत्त होने पर सब वर्ण पृथक्-पृथक् हैं—

एक प्रकार भागवत कृपा हो गई। कृष्ण के समान अब उन्होंने अपने भक्तों और शरणागतों के योग क्षेम का भार ले लिया "जितने दुःखी प्राणी हैं उन सबका भार मैं अपने ऊपर लेता हूं।" इस प्रकार का संकल्प अवलोकिनेश्वर बुद्ध करने लगे जो बाद में तिब्बत के राष्ट्रीय देवता बने। अपने को विमुक्ति प्राप्त करने का था वह अब ना रहा। अब स्वयं स्वयंभू बुद्ध मनुष्यों की मुक्ति की चिन्ता करने लगे और वह उन्हें मिलने भी लगी। चीन में सुखावती सम्प्रदाय महायान के अन्तर्गत खूब चला। इस सम्प्रदाय में देवता अमिताभ बुद्ध एक प्रकार के देवाधिदेव बन गए। अमिताभ कारुणिक पिता हैं उनकी शरण शताब्दियों से सुदूर पूर्व में अनेक यस्त्री-पुरुष लेते रहे हैं। "श्रद्धापूर्वक मैं अमिताभ की शरण जाता हूं। अमिताभ को नमस्कार करना मुक्ति का मार्ग है।"

इस कथन से यह सिद्ध है कि भागवतों की तरह महायानी सम्प्रदाय भी भक्ति प्रधान हो गया। और भक्ति के साथ जो दुर्गुण आने चाहिए वह वे इस सम्प्रदाय में भी आये। भक्ति के आवरण में वे सब विकार बौद्ध धर्म में भी आ गए जो वैष्णव धर्म में थे। इन विकारों ने पहले मन्त्र-यान का चोला पहना। अतः सौत्रिक और धारणिक मन्त्रों की रचना हुई। महापण्डित राहुलजी के अनुसार इन सौत्रिक (सूत्ररूप में निबद्ध) मन्त्रों का रचनाकाल ईसवी पूर्व ४०० से ईसवी पूर्व १०० तक है। इसके बाद धारणी मन्त्र प्रचलित हुए। जिनकी विकास प्रवृत्ति ई० पू०,१०० से ईसवी सन् ४०० तक है। इसके बाद तान्त्रिक रूप प्रकट हुआ जिसमे वज्रयान की आकृति धारण की और जिसके सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है। योगनियाँ और चौरासी सिद्ध इस अवस्था में ही पनपे। जैसा कि राहुल जी ने अपने पुरातत्व निबंधावली ग्रन्थ में लिखा है।

इतनी अधिक बढ़ गई कि इनके प्रति भारतीय जनता में घृणा और अश्रद्धा के भाव उत्पन्न हो गए। और शंकर के जमाने तक बौद्ध धर्म का ही भारत से मूलोच्छेद हो गया। अतः वाममार्ग यह वज्रयान ही था जिसका उद्भव महायान से हुआ था।

महायान सम्प्रदाय की नींव तो अशोक के समय से ही पड़ गई थी पर उसका विकसित रूप ईसा की प्रथम शताब्दि में सामने आया और दूसरी शताब्दि में प्रवर बौद्ध आचार्य नागार्जुन ने उसे व्यवस्थित रूप दिया। इतिहास कहता है कि कनिष्क जब ईसवी सन् ७८ में राजगद्दी पर बैठा तो उसने बौद्धों में जो मतभेद चला आ रहा था उसे मिटाने के लिए काश्मीर में किसी कुण्डल वन स्थान पर बौद्धों की एक सभा का आयोजन किया। परिणामस्वरूप बौद्ध संघ वहाँ दो सम्प्रदायों में विभाजित हो गया। वे सम्प्रदाय हीनयान और महायान थे। हीनयान बुद्ध के सिद्धान्तों पर चलने का जोर देते थे जबकि महायान केवल बुद्ध की मूर्ति बनाकर उसकी पूजा और भक्ति करने का ही उपदेश देते थे। महासांघिकों ने जो महायान का बीज था कहा था—

बुद्ध ने कहीं किसी को कोई उपदेश नहीं दिया। वे तुषित लोक में रहते थे मनुष्य लोक में कभी अवतरित नहीं हुए।[1]

महायान ने इसी सिद्धान्त के आधार पर उनके उपदेशों के संरक्षण की जगह उनकी भक्ति को प्रधानता दी। फलतः महायान में भक्ति को स्थान मिला इसका प्रेरणा स्रोत तात्कालीन वैष्णव धर्म में पूर्व वर्णित भक्ति थी जिसको भागवत धर्म कहा गया था।

बौद्ध ग्रन्थ सद्धर्म पुण्डरीक में बुद्ध से कहलाया गया है कि मैं इस जगत का पिता हूँ सुनो हे सब भिक्षुओ! मन और बुद्धि को सुदृढ़ समर्पित करो मुझे स्मरण करो और प्रणाम करो मैं तुम्हें मुक्ति दूँगा।[2] इस तरह भगवान बुद्ध ज्ञान की साधना के आधार न रहकर भक्ति साधना के आधार बन गए। बुद्धत्व के स्थान पर उनमें ईश्वरत्व ने आसन जमाया। तथा भगवान विष्णु की तरह वे भी भक्तों के तारण तारण बन गए।

भरतसिंह उपाध्याय अपने 'बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन' में लिखते हैं—

महायान में आकर भगवान बुद्ध एक प्रकार ईश्वर बन गए हैं जिनकी पूजा भक्त करता है और जिनमें विश्वास करता है। उनके साथ अन्य देवता भी आये जिन्हें बोधिसत्त्व भी कहते हैं जिन पर अभी हम विचार करेंगे। बुद्ध अब स्वयंभू हो गये और अपनी कृपा के द्वारा जगत के सत्त्वों का उद्धारक बन गए। बुद्ध की कृपा

---

१ सर्वथैव वर्तमानस्य विस्मितम्भी बुद्धेन दर्शित सा० कारिका।
न चैव स्वधातुन्यर्पितम् ॥ नौका हि ... ... ।

२ देखो बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ३६७।

वाला साहित्य सृजन नही हुआ। पचास्तिकाय की टीका मे अमृतचन्द्र महर्षि ने लिखा है कि :—

"यह भक्ति अज्ञानियो के होती है और कभी तीव्र राग ज्वर दूर करने के लिए ज्ञानियो की भी होती है।"

अत विक्रम की प्रथम शताब्दि तक तो जैन साहित्य मे भक्ति का पूर्णतया अभाव है। आद्यस्तुतिकार यही आचार्य समन्तभद्र स्वामी हुए है। जिनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। इनकी स्तुतियाँ शुद्ध दार्शनिक स्तुतियाँ है। जो स्वपक्ष मडन और परपक्ष खण्डन से भरी पडी है। लौकिक जनो की भक्ति का तो इन्होने विरोध किया है जैसा कि ऊपर के उद्धरणो से स्पष्ट है। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा जो प्राचीन ग्रन्थ है उसमे भी इन देवी देवताओ मे वैभव प्राप्ति का निषेध किया है वे लिखते है कि यदि व्यतर देव ही तुम्हे लक्ष्मी देदे तो तुम्हारे अपने कर्म ही बेकार हो जायेंगे अत कोई देवी देवता लक्ष्मी प्रदान नही करता।[2]

सातवी शताब्दि के प्रखर तार्किक आचार्य अकलक के कार्य कलापो मे बौद्धो के साथ उनके शास्त्रार्थ की चर्चा भी आई है। उसमे लिखा है कि बौद्ध भिक्षुओ को जब यह आभास हुआ कि वे अकलक की प्रौढ युक्तियो के सामने नही टिक सकते तो उन्होने तारादेवी की आराधना की और उसे पर्दे के भीतर घट मे स्थापन किया। [illegible] ने अपने नाम पर तारादेवी से शास्त्रार्थ कराया। यह शास्त्रार्थ छै माह चला, [illegible] जैनो मे चक्रेश्वरी देवी प्रकट हुई उसने कहा कि बौद्धो की ओर से यह मनुष्य नही किन्तु देवी शास्त्रार्थ कर रही है, इस देवी की कही हुई बात को यदि पुन इससे [illegible] जाय तो यह चुप रह जायेगी। क्योकि देवता कही हुई बात को पुन नही कह [illegible]। [illegible] ने ऐसा ही किया और देवी को शास्त्रार्थ मे परास्त किया।[1]

[illegible] मे इसी प्रवृत्ति ने देवी देवताओ का और तथा मान्त्रिक चमत्कारो के [illegible]। यद्यपि [illegible] कुन्दकुन्द से बहुत बाद मे हुए है लेकिन [illegible] कुन्दकुन्द के समय मे ही प्रारम्भ हो गये थे और [illegible] तथा [illegible] उग्र रूप धारण कर लिया [illegible] मे बौद्धो के विनाश का कारण हुई वहाँ [illegible] के अनुसार इस [illegible] के विनाश का [illegible] इस प्रकार है :—

अमृत से अपना अभिषेक करता हुआ दूर करता है।"[१]

वास्तव म आत्मा की अनित्यता ही भोग-विलास रूप स्वच्छेद प्रवृत्ति मे कारण हो सकती है। कर्म और कर्मो के फल का भोक्तृत्व नित्य आत्मा मे ही बन सकता है। जिसे यह विश्वास है कि करने वाला मैं दूसरे क्षण मे नही हूँ वह अपने करने के (कर्म के) परिणाम को भी क्यो देखने लगा। जब मनुष्य के सामने अपने कार्य का परिणाम नही है तो क्यो वह वैराग्य और तपश्चरण के कष्ट को सहन करेगा। अपने उस क्षणिक जीवन के लिये जिन कर्मो को करने मे उसे सुख और आनन्द मिलेगा वही वह करेगा। जन्म मरण से ऊब जाने की बात तो वे करते हैं जिन्हे लोक और परलोक पर विश्वास है। पर जब परलोक ही नहीं तब ऊबने का कारण भी क्या ? और जिन शुभ कर्मो का फल परोक्ष है उनके करने से भी क्यो खेद और परिश्रम उठाया जाय। भगवान बुद्ध से जब यह पृछा गया कि परलोक है ? तब उन्होंने उसका उत्तर दिया कि यदि किसी व्यक्ति के तीर लगा हो तो तुम तत्काल यह नही पूछोगे कि यह तीर किस दिशा से आया है कितने वजन का है और किसने मारा है बल्कि उस तीर को निकालने की चेष्टा करोगे जिससे तीर लगने वाले व्यक्ति के प्राणो को बचाया जा सके। इसी प्रकार हमे इस लोक सबधी दुखो को क्षय करना है। अत उसके लिए परलोक की चिन्ता नही करनी चाहिए।

इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि भगवान बुद्ध परलोग के विषय मे मौन रहे अथवा परलोक पर उन्हे विश्वास नही था। किन्तु अन्य लोग उसे मानते आ रहे थे। अत इस विषय मे ठीक उत्तर देने की अपेक्षा वे इसे टालते रहना ही उचित समझते थे। इस तरह जब बुद्ध की देशना मे परलोक को कोई स्थान नही था तब उनके अनुयायियों द्वारा आत्मा के सबध मे शाश्वत दृष्टि को भुलाकर कर्म और फल की श्रद्धा से दूर [illegible] किया गया। कर्म और फल की श्रद्धा के अभाव मे जो परिणाम होना [illegible] था वही हुआ। बौद्ध समाज मे नैरात्म्यवाद का प्रचार बढा और उसकी आड [illegible] किया। भैरवीचक्र, स्त्री सम्भोग आदि की स्वच्छन्द प्रवृत्ति का श्री [illegible] हुआ। इस प्रकार वाममार्ग अस्तित्व मे आ गया।

मन्त्रों की सूत्रात्मक रचना ४०० ई० पूर्व से १०० ई० पूर्व तक
धारिणी मन्त्र १०० ई० पूर्व से ४०० ई० तक
मन्त्रनय ४०० ई० से ७० ई० तक

इस विराम क्रम से यह सिद्ध होता है कुन्दकुन्द के बहुत पहले से ही इन मन्त्रों की आराधना होने लगी थी धारिणी मन्त्रों का प्रचलन कुन्दकुन्द के समय में रहा और धीरे धीरे यह वाम मार्ग में प्रचलित हो गया जिसमें स्त्री सम्भोग भैरवी चक्र आदि सब कुछ चल पड़े। जगन्नाथ के मन्दिर की भित्तियों पर जो अश्लील चित्र हैं वह महायानी युग की साधना के रूप हैं और जगन्नाथ की मूर्ति भी वास्तव में बुद्ध मूर्ति है।

शैव और शाक्त सम्प्रदाय बौद्धों की इस विकृत साधना से ही अनुप्राणित है। वास्तव में ये शैव शाक्त सम्प्रदाय इस महायानी बौद्धों का ही परिवर्तित रूप है। यह जो कहा जाता है कि बौद्धों को भारत से निकाल दिया गया उसका मतलब यह नहीं है कि वे किसी दूसरे देश में चले गये बल्कि ये बौद्ध धर्म में प्रचलित तन्त्र मन्त्र ही हिन्दु साधना के अंग बन गये और तान्त्रिक बौद्ध ही शक्ति के उपासक शैव बन गये इस सम्बन्ध में भरतसिंह उपाध्याय का यह कहना एक ऐतिहासिक तथ्य है[1] कि—

तान्त्रिक धर्म के माध्यम से भी बौद्ध धर्म बड़ी आसानी से हिन्दु धर्म में समाविष्ट हो गया। यह कार्य विशेषतः पूर्वी बंगाल और असम में सम्पन्न हुआ।

यहाँ यह कहना आवश्यक होगा कि तान्त्रिक बौद्ध धर्म के देवी देवताओं को पूरी तरह हिन्दु धर्म के तान्त्रिक साधकों ने अपना लिया था अथवा दोनों में से कुछ भेद भी था हमारी दृष्टि से यह कहना भी असंगत होगा। बौद्ध तान्त्रिक धर्म की तारा और शैवों की शक्ति में कोई अन्तर नहीं है जब भक्ति धर्म का आविर्भाव हो रहा था तान्त्रिक धर्मों की साधना का यह सम्मिश्रण बंगाल और असम में चल रहा था जिसने अपना प्रभाव सगुण भक्ति आन्दोलन पर छोड़ा है।

इस तरह तान्त्रिक बौद्ध जब शक्ति के उपासक शैव बन गए तो बौद्धों का आराध्य देव भगवान बुद्ध भी हिन्दू धर्म के चौबीस अवतारों में समा गये अन्यथा वेद और वर्णाश्रम के विरोधी बुद्ध का जिसके लिए बौद्ध धर्म को नास्तिक कहा जाता है। आस्तिक धर्मों में स्थान पाना कठिन था।

अब तक कि चर्चा से हम यह समझने में देर नहीं लगती कि बौद्धों के महायानी सम्प्रदाय का विकृत रूप कुन्दकुन्द के भी समक्ष था। वाममार्ग का उग्र रूप भले ही बाद में हुआ हो पर उसका बीज कुन्दकुन्द से पहले ही पड़ गया था और उसका प्रारम्भ कुन्दकुन्द के समय में हो गया था। इस मनि स्वयं बुद्धि के अनुसार जो लोग इस मत के अनुयायी नहीं थे उन पर भी उसका प्रभाव हुआ और वे भी इधर उधर आकर्षित होने लगे। हमारा अनुमान है कि जब भागवत धर्म में वात्सल्य

---

१ देखो बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन।

का गढ भी दक्षिण मे रहा और कुन्दकुन्द भी दक्षिण मे ही उत्पन्न हुए। अत कुन्दकुन्द ने यह सब अपनी आँखो से देखा होगा इसमे सन्देह नही है। तब यह अनुमान करना स्वाभाविक हो जाता है कि समयसार की रचना इस सबके प्रतीकार के लिए की होगी। उनके ये वाक्य "चुक्किज्ज छल न घेतव्व" इस बात के द्योतक है कि उस समय भोगवादियो का जनता पर इतना प्रभाव था कि वे साधारणतया आत्मा की बात सुनने को तैयार नही थे। यदि सुनते भी थे तो उसे छल या दम्भ समझते थे।

उस समय वैदिक सस्कृति और श्रमण सस्कृति ही देश की दो प्रधान सस्कृतियाँ थी। वैदिक सस्कृति भागवत, शैव और शाक्त रूप मे परिणत होकर आध्यात्मिकता से परे हो गई। श्रमण सस्कृति मे जैन और बौद्ध थे उनमे बौद्ध धर्म महायान के रूप मे तन्त्र मन्त्र और चमत्कारो का प्रदर्शन करने लगा। अब केवल जैन रह गये थे। आश्चर्य नही उन पर भी उन पडोसी धर्मों का दुष्प्रभाव पडा हो जैसा कि होना स्वाभाविक है अत कुन्दकुन्द जैसे आचार्य जिनकी युगप्रतिष्ठापकता का हम पहले वर्णन कर आये है। उस परिस्थिति को देखकर चुप नही रह सकते थे। दिगम्बरत्व और श्वेताम्बरत्व के तीव्र मतभेद के समय उन्होने जिस प्रकार सैद्धान्तिक व्यवस्थाएँ दी और लोगो के सशय को दूर किया उसी प्रकार आत्मा सबधी शिथिलता और सदेहशीलता को दूर करने के लिए उन्होने समयसार की हृदयग्राही रचना की होगी और जनता को भोगवाद से पराङ्मुख किया होगा।

पडोसी धर्मों का जैनो पर किस प्रकार दुष्प्रभाव पड रहा था इसका कुछ सकेत समयसार मे भी मिलता है। आत्मा को एकन्तत पर द्रव्य का कर्ता स्वीकार करने पर कुन्दकुन्द श्रमणो से कहते है—

'लोयस्स कुणई विण्हू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते।
समणाण पि य अप्पा जइ कुव्वइ छव्विहे काये ॥३२१॥

का ज्ञान करके ही मनुष्य ससार के कष्टो से मुक्ति पा सकता है धूप और वर्षा मे शरीर को जर्जरित करने से कष्ट शान्त नही होते और न कोई ऐसा परलोक है जहाँ के सुख के लिए आत्मा को आशावान् बनाया जाए। आत्मा के पुनर्जन्म की मान्यता ही परलोक कहलाती है। लेकिन आत्मा कोई पृथक् अस्तित्व रखने वाला स्वतत्र पदार्थ नही है। किन्तु पांच स्कन्ध ही कर्म क्लेशो से सस्कृत होकर अन्तराभव सन्तति क्रम मे जन्म लेते रहते है।[1] ये पांच स्कन्ध क्रमश रूप, विज्ञान, वेदना, सज्ञा और सस्कार है। इन्द्रिय और उनके विषय रूप स्कन्ध कहलाते है, आलय विज्ञान 'अहकार' और प्रवृत्ति विज्ञान 'तद्नुकूल प्रवृत्ति' को विज्ञान स्कन्ध कहते है। उक्त दोनो स्कन्धो से जन्य सुख-दुख के वेदन को वेदना स्कन्ध कहते हैं। यह गौ है, यह घर है इत्यादि सज्ञा रूप ज्ञान को सज्ञा स्कन्ध कहते है। वेदना स्कन्ध से होने वाले रागद्वेषादिक क्लेश तथा मद मान आदिक उपक्लेश एव धर्माधर्म ये सस्कार स्कन्ध कहलाते हैं। ये पांच स्कन्ध ही जन्म-मरण को प्राप्त होते रहते है। इनका क्षय ही निर्वाण है। इन स्कन्धो से अतिरिक्त आत्मा

के समय के अतिरिक्त जल ग्रहण नही करना, भूमि पर सोना, दुर्द्धर आसनो से तपस्या करना आदि कायक्लेश करके क्लेश के क्षय को वे स्वीकार नही करते थे। उनका कहना था कि क्लेशो से क्लेशो का क्षय नही होता जैसे रक्तरजित वस्त्र रक्त से नही धुलता। यही कारण था कि बुद्ध ने स्वय इस प्रकार की कठोर तहस्याओ को छोडकर मध्यम मध्यम मार्ग ग्रहण किया जिससे न अधिक कष्ट सहने की बात थी और न एकदम सुखमय विलासी जीवन बिताने की बात थी।

"कठोर तपश्चरण करने के बाद दूसरे जन्म मे कोई सुख मिलता है"। बुद्ध इस विश्वास को ही उडा देना चाहते थे इसलिये उन्होने अनात्मवाद का उपदेश दिया। वे नहीं चाहते थे कि भावी सुख की आशाओ मे लोग वर्तमान क्लेशो को भुला दे। "अनत्तलक्खण सुत्त" मे इस अनात्मा का जिस सूत्र मे वर्णन है वह अनात्म लक्षण सुत्र कहलाता है। यहाँ बुद्ध के उपदेश की कुछ बाते इस प्रकार है —

"रूप भिक्खवे अनत्ता। रूप च हिद भिक्खवे अत्ता अभविस्सा न यिद रूप आबाधाय सग्वत्तेय्य, लब्भेथ च रूपे एव मे रूप होतु। "एव मे रूप मा अहो-सीति। यस्माच खो भिक्खवे रूप आबाधाय सवत्तत्ति, नच लब्भति रूपे एव मे रूप होतु मे रूप माअहो सीति। विनयपिटक महावग्ग अनत्तलक्खणसुत्त।"

"हे भिक्षुओ! रूप आत्मा नही है। यदि रूप आत्मा होता तो इसमे बाधाएँ (रोग) न होती, और हमारे लिये यह कहना सभव था कि मेरा रूप ऐसा हो ऐसा न हो। क्योकि भिक्षुओ! रूप आत्मा नही है अत रूप मे बाधा है इसलिये हमारा यह कहना सभव नही कि मेरा रूप ऐसा हो, ऐसा न हो।"

अतः एक तुम्बी में रसायन लेकर वे शुभचन्द्र के पास पहुँचे और कहा कि साधु होकर भी सिद्धि विहीन होने से जो तुम्हें कष्ट है उससे मैं दुःखी हूँ अतः यह रसायन देता हूँ। इससे मन चाहा सुवर्ण प्राप्त कर सकते हो। शुभचन्द्र ने कहा यदि सुवर्ण की ही इच्छा थी तो तुम्हें राजपाट नहीं छोड़ना था। ऐसा कहकर उन्होंने अंगुली से अपने साथ का पसीना पोंछकर पर्वत पर जहाँ के पत्थर पर डाल दिया और भर्तृहरि से कहा कि तुम्हें जितना सुवर्ण चाहिये ले लो। रसायन बनाने का परिश्रम व्यर्थ करते हो। भर्तृहरि ने देखा कि सारा पर्वत सुवर्णमय हो रहा है। उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा वे लज्जित हो गए और उस रसायन की तुम्बी फेंककर चले गये।

इसी प्रकार आचार्य मानतुंग जो जैन स्तोत्र भक्तामर के कर्ता हैं सम्राट् हर्षवर्धन के समकालीन थे जिनका समय ईसा की सातवीं शती है अपने मांत्रिक प्रयोगों से ४८ बन्द कोठरियों से बाहर निकल आये थे। सातवीं शती के आचार्य अकलंक के साथ शास्त्रार्थ में बौद्धाचार्य द्वारा तारादेवी को आमंत्रित करने का उल्लेख हम कर हो आये हैं।

उक्त कथाएँ सत्य हैं या कल्पित इससे अभिप्राय नहीं है। अभिप्राय इतना ही है कि सातवीं शताब्दी में रसायनिक एवं मांत्रिक प्रयोग प्रचुर मात्रा में होते थे। बौद्ध भिक्षु तथा उनके समय में अन्य साधु अपने पास रसायन का आकर्षण रखते थे। जिससे वे जन साधारण को अपनी ओर खींच सकें और अपने अधिक से अधिक भक्त बना सकें।

शान्तिभिक्षु शा० ने लिखा है कि महायान के सहारे तांत्रिक प्रवृत्तियों ने प्रवेश कर बौद्धधर्म को वज्रयान और सहजयान में बदला। भिक्षु लोग भीतर से वज्रयानी ऊपर से महायानी और लोगों से बात करने में हीनयानी बन रहते थे।

अभिप्राय यह है कि वज्रयानियों का जो आचरण था उससे जन-साधारण घृणा करता था अतः भिक्षु वैसा आचरण छिप छिप ही करते थे। किन्तु अपने सम्प्रदाय में वे सूत्रधार के प्रचारक बनकर रहते थे अतः महायानी कहलाते थे। इतर सम्प्रदाय में वे सर्वास्तिवादी के रूप में विचरते थे। इसलिए लोगों से बात करने में हीनयानी मालूम देते थे।

हमारे ऊपर के कथन से यह परिणाम निकलता है कि बुद्ध ने धनपति बनने का त्याग करने के लिए अनात्मवाद का उपदेश दिया था। यद्यपि बुद्ध से पहले भगवान पार्श्वनाथ या जैन सम्प्रदाय सामाजिक क्रांति के त्याग पर जोर देता था। बौद्ध परम्परा में भी यही बात थी। लेकिन इनके द्वारा बतलाए त्याग का जो उपाय बतलाया जाता था बुद्ध उससे सहमत नहीं थे।

जैनों में नग्न रहकर कठोर तपस्याएँ करना महोपवासों का धारण करना तथा अन्तर और बाह्य परीषहों का सहन करना रात्रि में एक करवट सोना आहार

प्रारम्भ हो गया।

महापडित राहुल साकृत्यायन ने "पुरातत्व निवधावली" पृ० १३७ मे "वज्रयान और चौरासी सिद्ध" नाम से जो लेख लिखा हैं उसमे इन मन्त्रो के समय की चर्चा की हे उन्होने सूत्र मन्त्रो को समय ई० पू० ४०० से ई० पूर्व० १०० तक वताया है और धारिणी मन्त्रो का समय ई० पू० १०० से ४०० ई० तक वताया है।

इस पर से यह सिद्ध होता हे कि आचार्य कुन्दकुन्द के समक्ष यह मन्त्रयान जो महायान की देन हे चल पडा था और कुन्दकुन्द इसे अनात्मवाद का ही परिणाम समझते थे। इस अनात्मवाद का दूसरा परिणाम यह हुआ कि मनुष्यो को भोग प्रवृत्ति के लिए खुला मार्ग मिल गया। जब आत्मा हे ही नही और इतर पदार्थ भी सव शून्यात्मक हे तव स्वस्त्री, परस्त्री, आदि का विभाग शून्य ही था। जब स्त्री ही नही तव उसमे स्व, पर की कल्पना निरर्थक हे। मद्य मास, मैथुन आदि का सेवन करना या न करना आदि व्यर्थ की वातें समझी गई। कोई हे ही नही तो सेव्य सेवक भाव भी किसका। इस प्रकार भोगासक्तता का मार्ग खुल गया था। यहाँ तक कहा जाता था —

"प्राणिनश्च त्वया घात्या वक्तव्य च मृपावच,
अदत्त च त्वया ग्राह्य सेवन योपितामपि।
एपो हि सर्व बुद्धाना समय परमशाश्वत ॥"[1]

ये सव वाते कुन्दकुन्द साक्षात् देख रहे थे। अत उनके सामने समस्या थी कि लोगो को इस भोगवाद से कैसे विरक्त किया जावे। कुन्दकुन्द ने अनुभव किया कि इस भोगवाद की जड मे शून्यवाद का हाथ है और शून्यवाद अनात्मवाद की देन है अत अनात्मवाद को ही जडमूल से उखाडना चाहिये। इसके लिये यह आवश्यक है कि आत्मवाद की पुष्टि की जाय। समयसार की रचना कुन्दकुन्द के इसी आत्मवाद के समर्थन का फल है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने वौद्धो के इस अनात्मवाद का खण्डन किया है। वे लिखते हैं :—

जो करता है वह नही भोगता, जिनका ऐसा सिद्धान्त है वे मिथ्यादृष्टि हैं और अनार्हत है। दूसरा कोई करता है और अन्य कोई भोक्ता है ऐसे जीव को आर्हतमत से वाहर मिथ्यादृष्टि समझना चाहिये।"[2]

---

१ पुरातत्व निवन्धावली के पृष्ठ १४३, १४४ का फुटनोट, ···· "राहुल"
२ जो चेव कुणइ सो चिय ण वेयए जस्स एस सिद्धन्तो,
सो जीवो णायव्वो मिच्छादिट्ठी अणारहिदो ॥ ३४७ ॥
अण्णो करेइ अण्णो परिभुजइ जस्स एस सिद्धन्तो,
सो जीवो णायव्वो मिच्छा दिट्ठी अणारहिदो ॥ ३४८ ॥········समयसार।

था ।[1] अत कलश श्लोक मे जिन अन्धको का उल्लेख है वे नियम से ये ही आन्ध्रवासी बौद्ध है । और अमृतचन्द्र का इन्ही की तरफ सकेत है । आन्ध्र देश मे इन अन्धको का मुख्य स्थान धान्यकटक और श्रीपर्वत थे । यह धान्यकटक सम्भवत सातवी शताब्दी के प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान जैनाचार्य अकलक का निवास स्थान 'मान्यखेट' प्रतीत होता है । लिपि की अशुद्धता से धान्य का मान्य हो जाना या पढा जाना साधारण बात है और कटक अथवा खेट मे कोई विशेष अन्तर नही है । अकल का दार्शनिक जीवन अधिकाश बौद्धो के साथ सघर्ष मे ही बीता है और उनका दक्षिण मे होना प्रसिद्ध ही है । इसमे भी अकलक का मान्यखेट अन्धको का मान्यकटक ही प्रतीत होता है । यह अधक सप्रदाय कुन्दकुन्द के समय मे भी था और उसके क्षणवाद को लेकर उन्होने उक्त दो गाथाएँ लिखी है ।

इस प्रकार हम देखते है कि कुन्दकुन्द के समय मे अनात्मवादियो का खूब प्रचार था और कुन्दकुन्द उस प्रचार से कम से कम जैनो को अलग रखना चाहते थे जिसके कारण समयसार का निर्माण हुआ ।

बाह्यवेष और आडम्बर की प्रमुखता

कुन्दकुन्द के समय मे कुछ ऐसे साधुओ की परम्परा चली आ रही थी जिनमे श्रामण्य की भावना नही थी । आडम्बर और वेष के आधार से वे लोक मे अपनी पूजा प्रतिष्ठा को ही प्रमुखता देते थे । तप और सयम की भावनाओ ने लोकैषणा का स्थान ले लिया था । कुन्दकुन्द ने इन वेष और आडम्बरो पर अपने प्राभृतग्रन्थो मे कडे प्रहार किये है । साथ ही उसके आधार पर पूजा प्रतिष्ठा प्राप्त करने को दुर्गति-दायक बताया है ।

दर्शनप्राभृत की १२वी गाथा मे लिखा है—

"जे दसणेसु भट्टा पाए पाडति दसणधराण ।
ते होंति लुल्लमूआ बोही पुण दुल्लहातेसिं ॥ १२॥

१. "ऐतिहासिक तथ्यो के आधार पर यह सुप्रमाणित है कि ईस्वी सन् करीब कृष्णा नदी के किनारे पर दक्षिण भारत के गन्टूर जिले में महासाघिको का एक प्रभावशाली केन्द्र था । महासाघिको के एक सम्प्रदाय का नाम 'अन्धक" होना इस बात को प्रमाणित करता है कि यह सम्प्रदाय आन्ध्र देश मे अत्यन्त लोकप्रिय था । अमरावती अभिलेखो से यह भली प्रकार विदित है कि आन्ध्र देश के राजाओं और जनता का सरक्षण अधकभिक्षुओ को प्राप्त था जो महासाघिकों की संप्रदाय की एक शाखा थी । अतः हम कह सकते हैं कि महायान का उदय दक्षिण भारत मे हुआ जहां महासाघिको का प्रभाव बहुत अधिक था ।"
—"बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन"—१ भाग
प० बगाल, हिन्दी मंडल

मत मे जो निग्रन्थ है, मोह मुक्त है, बाईस परिषहो को सहन करता है, जित कषाय है, पाप और आरम्भ से रहित है वही मोक्ष मार्ग है[1]। यहाँ निग्रथ से अभिप्राय सब प्रकार के वस्त्रो का त्याग है। वस्त्रो की पाँच जातियाँ बताई है —

१ अडज—कोष से उत्पन्न होने वाले।

२ बोडज—सूती वस्त्र।

३ रोमज—ऊनी वस्त्र।

४ वक्कज—वल्कल से बनाए हुए।

५ चर्मज—चमडे से निर्मित।

इनमे से कुछ लोग वस्त्रो की छाल पहनकर नगर मे आहार करने चले जाते थे और बाद मे आकर उन्हे उतार दिया करते थे। कुन्दकुन्द ने पचचेल मे वक्कज वस्त्रो को भी लिया है और लिखा है कि जो उसमे आसक्त है वह मोक्ष मार्ग से बहिर्भूत है।

दूसरे कुन्दकुन्द ने उन साधुओ को भी मोक्ष मार्ग मे बहिर्भूत बताया है जो कान्दर्पी, कैल्विषी, आसुरी, सामोही, और आभियोगिकी भावना से अभिभूत है[2]।

मुद्राराक्षस मे हमे कुछ ऐसे साधुओ का पता लगता है जो नग्नक्षपणक कहलाते थे और राजनीति मे गुप्तचर का काम करते थे। क्योकि दिगम्बर साधुओ का राजा रक सभी के घरो मे प्रवेश होता था। और घर की स्त्रियाँ भी उनसे कोई लाज या परदा नही करती थी। तत्कालीन राजाओ को ऐसे लोगो की बडी आवश्यकता रहती थी। अत. आश्चर्य नही कि कुछ जैन साधुओ को प्रलोभन के आधार पर राजाओ ने अपनी ओर खीचकर उन्हे इस कर्म मे प्रवृत्त किया हो। साथ ही कुछ अपने गुप्तचरो को भी प्रकट मे दीक्षा दिलाकर अच्छे साधुओ के साथ विचरण कर घर-घर की खबर लाने के काम मे लगा दिया हो। ये कादर्पी, कैल्विषी, आसुरी आदि भावना वाले नग्न गुप्तचर क्षपणक ही थे। चन्द्रगुप्त के शासन मे गुप्तचर के कार्य के लिए इन नग्नक्षपणको का बहुलता से उपयोग किया जाता था। उसके बाद अशोक विक्रमादित्य आदि राजाओ के काल मे भी इनका वर्ग था। विक्रमादित्य के नवरत्नो मे एक 'क्षपणक' नाम का भी उल्लेख है[3]। यह क्षपणक कौन है इसका पता नहीं किन्तु इसी वर्ग का कोई व्यक्ति होना चाहिये जो भले ही गुप्तचर का काम न करता हो किन्तु उसके वर्ग

---

१ णिग्गंथ मोह मुक्का बावीस परीसहा जिय कसाया।
पावारंभविमुक्का ते गहिया मोक्खमग्गम्मि ॥ ८० ॥ मो० प्रा०

२ कंदप्पमाइयाओ पंच वि असुहादि भावणाई य
भाऊण दव्वलिंगी पहीण देवो दिवे जाओ ॥ १३ ॥ भा० पा०

३. धन्वन्तरिः क्षपणको मरसिंह शंकु वेतालभट्टघटखर्पर कालिदा
ख्यातोवराहमिहिरो नृपतेः सभाया रत्नानिवै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥

और प्रादुर्भाव को भी वल मिला। भगवान पार्श्वनाथ ने चातुर्याम व्रत का उपदेश दिया था और भगवान महावीर ने पच यम का उपदेश दिया था। अहिंसा, सत्य, अचौर्य एव अपरिग्रह मे पार्श्वनाथ के चातुर्याम व्रत थे और इनमे अपरिग्रह के पहले ब्रह्मचर्य यम का उपदेश जोड देने से महावीर के पाँच यम हो जाते है।

इस चार और पाच की सख्या का यह अभिप्राय नहीं था कि भगवान पार्श्वनाथ ने ब्रह्मचर्य को व्रत ही नही माना और महावीर ने ही उसे माना। वात यह थी कि स्त्री की गणना भी परिग्रह मे ही होती थी और जिसने अपरिग्रह व्रत धारण कर लिया उसे स्त्री का अपनाना भी उसी तरह पाप था। जिस तरह धन-धान्य मकान आदि का। कोप मे सर्वत्र परिग्रह का अर्थ स्त्री भी स्वीकार किया है। 'अभिज्ञान शकुन्तल' मे शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त ने अपनी असशय मनोवृत्ति का परिचय इन शब्दो मे दिया है—'असशयक्षत्रपरिग्रग्रहणक्षमा' अर्थात् यह शकुन्तला नि सन्देह क्षत्री की पत्नी वनने योग्य है। यहाँ कवि कालिदास को परिग्रह का अर्थ पत्नी स्वीकार है। वस्तुत ससार का सारा परिग्रह पत्नी के ऊपर ही होता हे अत जो परिग्रह की जड है वह स्वय महापरिग्रह है। इसीलिए पत्नी को परिग्रह माना गया है।

महावीर के समय मे लोग कुछ वक्र हो गये थे। परिगह मे वे क्षेत्र वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धनधान्यादि को ही लेते थे। पत्नी को नही। अत ब्रह्मचर्य की आवश्यकता ही नही समझी जाती थी। पार्श्वनाथ के पहले और ऋषभनाथ के वाद लोगो को चातुर्याम व्रत का ही उपदेश मिला था उसमे ब्रह्मचर्य व्रत का कोई स्थान नही था। यही कारण था कि लोग उस जमाने मे यौन सबध मे स्वेच्छाचारी थे। पौराणिक आख्यान इस सबध मे भरे पडे है। प्रसग न होने से उन सबके उदाहरणो की यहाँ आवश्यकता नहीं है। स्वय गौतम बुद्ध पार्श्वनाथ तीर्थ मे उत्पन्न हुए थे और पार्श्वनाथ के अनुयायी बनकर रहे लेकिन कठोर तपश्चरण और कायक्लेश को न सह सकने के कारण उसकी अयथार्थता समझ वे पार्श्वनाथ का मत छोडकर स्वय ही एक मध्यम मार्ग के नेता बन गये। यह मध्यम मार्ग ही बुद्ध का उपदेश है। इस उपदेश मे कठोर तपश्चर्या से बोधि की प्राप्ति नही होती है। और न विषय लोलुपता से निर्वाण की प्राप्ति होती है। अत मध्यम मार्ग ही बोधि प्राप्ति के लिए उचित है। इसी मार्ग से स्वय गौतम ने गया मे बोधि प्राप्ति की थी जिससे वे गौतम की जगह गौतम बुद्ध बन गये।

भगवान महावीर के समय पाँच मिथ्यात्व प्रचलित थे साथ ही ३६३ पाखण्डो का भी उनके समय मे उल्लेख किया जाता है। पाखण्डो के प्रचलन को बौद्ध ग्रन्थो मे भी स्वीकार किया गया है भले ही वे ३६३ न होकर ६२ हो पर यह सिद्ध है कि उस समय पाखण्ड [illegible] थे। यहाँ इन पाखण्डो की चर्चा न कर हम पांच मिथ्यात्व और उनके प्रवर्तको की मान्यता का साधारण उल्लेख करेंगे। एकान्त, विपरीत, वैनयिक, सशय, अज्ञान का पाँच मिथ्यात्वो का जैन शास्त्रो मे उल्लेख है और इन पाँचो के प्रवर्तक

वौद्ध मत मे सम्मिलित हो गया और उसने शुद्धोदन के पुत्र बुद्ध को परमात्मा कहा।[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि सजयवेलठ्ठपुत्त पार्श्वनाथ की परम्परा के ही एक साधु होगे। उनके स्याद्वादसिद्धान्त को मौग्दलायन समझ नही सका होगा अथवा समझा भी होगा तो वाद मे वौद्ध वन जाने के कारण द्वेष से उसने स्याद्वाद सिद्धान्त का हास्य किया होगा और विचार किया होगा कि सजय (जैन मुनि) का सिद्धान्त सशयवाद है, अर्थात् है, नही है, है भी, नही भी है, कौन जाने है या नही है। इस प्रचार के कारण यह सशय वाद का प्रचार संजयवेठ्ठपुत्त के सिर मढ दिया गया होगा।

इस तरह हम देखते है कि इन तैर्थिको मे कुछ तो पार्श्वनाथ के अनुयायी थे जिन्होने महावीर के तीर्थ को स्वीकार नही किया और सदा उनके शासन से मतभेद रखते रहे। तथा कुछ ऐसे थे जो महावीर की शिष्यता अगीकार करने के वाद बुद्ध के मध्यम मार्ग को सरल मानकर उधर मिल गये। और महावीर से मतभेद रखने लगे। कुछ ऐसे थे जो महावीर के शिष्य तो रहे किन्तु अन्दर ही अन्दर परस्पर मतभेद भी रखते थे। महावीर जव तक विहार करते तव तक उनके मतभेद प्रकट नही हुए, किन्तु ज्योही महावीर का निर्वाण हुआ वे मतभेद उभर कर सामने आ गये। हमारे इस कथन की झाकी पालिग्रन्थो का वह वर्णन हे जहा लिखा है कि णिग्गंथनाथपुत्त का पावा मे निर्वाण हुआ और उनकी मृत्यु के वाद उनके शिष्य परस्पर झगडने लगे थे।[2]

धम्मपदठ्ठ कथा जो पालि टेक्स्ट सोसायटी से प्रकाशित हुई है[3] उसके वर्णन के अनुसार निग्गठ साधुओ के दो रूप वताये है। जिनमे एक तो वस्त्र धारण करते थे और दूसरे अचेलक अर्थात् नग्न रहते थे। हो सकता है ये वस्त्र सहित साधु क्षुल्लक पद के धारक हो। पर जहा तक हमारा अनुमान है उस समय कुछ ऐसे भी साधु होना चाहिए जो वस्त्र पहनने लगे होगे और वाद मे श्वेताम्वर नाम मे प्रसिद्ध हुए होगे।

लिखने का अभिप्राय यह है कि महावीर के शासन मे मतभेद उनके जीवनकाल मे मौजूद थे और उनके निर्वाण के वाद तो वे और अधिक वढ गये तथा अन्तिम श्रुतकेवली भद्रवाहु के समय मे वे मतभेद स्पष्टत दो धाराओ मे विभक्त हो गये। जिनका हम आगे उल्लेख करेगे।

इन मतभेदो की परम्परा आगे वढती ही गई एक मतभेद मे से अन्य मतभेद निकलते थे जिन्हे जैनाभास कहना पडा, जो वास्तविक जैन थे उनमे भी गणगच्छ

---

१ रुष्टः श्री वीरनाथस्य तपस्वी मौडिलायनः
शिष्य श्री पार्श्वनाथस्य विदधे बुद्धदर्शनम्
शुद्धोदन सुत बुद्ध परमात्मानमब्रवीत् ॥

२. मज्झिम निकाय—३, १, ४ सामगाम सुत्तन्त।

३ देखो जिल्द ३ पृष्ठ ४८६।

श्रमण बौद्ध मानिक तापस श्वेत पट और मस्करी को बताया है।[1]

इनमें से बौद्ध क्षणिकवाद को मानते थे, मत्स्य मांसादि भक्षण करते थे, मानिक पहले से ही चले आ रहे थे, तापसी विनय धर्म से मुक्ति मानते थे, श्वेतपट सवस्त्र मुक्ति, केवलाहार और स्त्री मुक्ति का विधान करते थे। इनमें मानिक और तापसियों को छोड़कर बुद्ध श्वेतांबर एवं मस्करी श्रमण धर्म से सम्बन्धित थे और प्रायः भगवान महावीर के समय में ही उनके शासन से मतभेद रखते थे।

बुद्ध के विषय में हम पहले लिख आये हैं कि वे तीर्थंकर पार्श्वनाथ के अनुयायी थे और जैना के कठोर तपश्चरण से खिन्न होकर मध्यममार्गी बन गये थे। बुद्ध के विषय में दर्शनसार ग्रन्थ में निम्न गाथाएँ दी हैं—

> सिरिपासणाह तित्थे सरयूतीरे पलासणयरत्थे
> पिहियासवस्स सीसो महासुओ बुद्धकित्तिमुणी
> तिमिपूरणासणेण हि अहिगय पव्वज्जाओ परिब्भट्ठो
> रत्तंबरं धरित्ता पवट्टियं तेण एयंतं
> मंसस्स णत्थि जीवो जह फले दहिय सक्कराए
> तम्हा तं वंछित्ता तं भक्खंतो ण पाविट्ठो
> मज्जं ण वज्जणिज्जं दवदव्वं जह जलं तह एदं
> इय लोए घोसित्ता पवट्टियं सव्वसावज्जं
> अण्णो करेई कम्मं अण्णो तं भुंजईदि सिद्धंतं
> परिकप्पिऊण णूणं वसि किच्चा णिरयमुववण्णो

उक्त गाथाओं का संक्षिप्त सार यह है—

श्री पार्श्वनाथ के तीर्थ में सरयू नदी के किनारे पलाश नगर में पिहितास्रव मुनि का शिष्य एक बुद्धकीर्ति नाम का मुनि था जो बहुश्रुत विद्वान था। वह किसी दिन दीक्षा से च्युत होकर मुनि हो गया और बाद में मत्स्य का मांस खाकर भ्रष्ट हुआ तथा लाल वस्त्रों को धारण कर एकान्त मत की पुष्टि करने लगा और कहने लगा कि दूध दही शक्कर की तरह मांस में भी जीवन नहीं है अतः मांस भक्षण करने वाला पापी नहीं है। इसी तरह मदिरा भी जल की तरह द्रव द्रव्य होने से वर्जनीय नहीं है। करने वाला कोई दूसरा ही है और भोगने वाला कोई दूसरा ही है। इस तरह अपना प्रचार करके अनेक लोगों को वश में कर लिया।

बुद्ध के सम्बन्ध में दर्शनसार का उक्त कथन भले ही कुछ बढ़ा चढ़ाकर लिखा गया हो पर उसकी मौलिकता में कोई अन्तर नहीं है। वे पार्श्वनाथ के अनुयायी थे

---

1 एयन्त बुद्धदरसी विवरीओ बह्म तावसो विणओ।
इन्दो वि य संसइया मक्करिओ चेव अण्णाणी ॥१६॥ गोम्मट०

हालत होगी। अत हमारे द्वारा जो वेष स्वीकार कर लिया गया है उसे हम छोडने को तैयार नही है। शान्त्याचार्य जब बार-बार इस वेष को छोडने का आग्रह करने लगे तो जिनचन्द्र ने क्रुद्ध होकर शान्त्याचार्य के सिर पर दण्ड प्रहार किया। जिसकी पीडा मे वे कालकवलित हुए और जिनचन्द्र स्वय सघ का अधिपति आचार्य बन गया। शान्त्याचार्य मर कर व्यन्तर हुए और जिनचन्द्र के सघ मे उपद्रव करने लगे। यह देख जिनचन्द्र ने शान्ति के लिए काठ की आठ अगुल लम्बी चौडी एक पट्टी बनाई उसमे शान्त्याचार्य की स्थापना कर उसकी पूजा की। तब से श्वेताम्बरो मे आज तक उस आठ अगुल पट्टी की पूजा का रिवाज है और यह पूजा उन्हे कुलदेवता मान कर की जाती है। इस प्रकार वस्त्र धारी श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति हुई।

इसी प्रकार दिगम्बर मत की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे श्वेताम्बरो का निम्न प्रकार का कथन है —

"भगवान महावीर के निर्वाण के ६३९ वर्ष बाद बोटिक मत अर्थात् दिगम्बरो की उत्पत्ति हुई। रथवीरपुर मे एक शिवभूति गृहस्थ रहता था उसकी पत्नी अपनी सास मे यह कहकर लडती थी कि तुम्हारा पुत्र रात को २ बजे सोने के लिए क्यो आता है। सासु ने कहा कि आज तुम मत जगो। मैं जगकर देखूँगी कि वह कैसे रात को इतनी देर से आता है।

सासू ने देखा कि शिवभूति आज भी उसी समय पर आया है दरवाजा खटखटा रहा है तो अपने पुत्र से कहा कि अब यह द्वार नही खुलता जहा खुला हो वहाँ चले जाओ। शिवभूति उल्टे पैर लौट चला और एक उपाश्रय मे जाकर दीक्षा के लिये प्रार्थना की। साधुओ द्वारा दीक्षा देने से इन्कार करने पर वह स्वय दीक्षित हो गया और बाद मे किसी प्रकार उन्ही साधुओ के साथ रहने लगा। वहाँ से विहार करने के बाद कुछ समय जब व्यतीत हो गया तो फिर उक्त साधुवर्ग रथवीरपुर आया। वहाँ के राजा ने शिवभूति को एक रत्न कबल दिया। साथ के साधुओ ने इस कबल-ग्रहण करने की निन्दा की और कबल भी नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। यह व्यवहार शिवभूति के सताप का कारण हुआ।

एक दिन सघ के प्रमुख जिनकल्प का वर्णन कर रहे थे और बता रहे थे कि आजकल यह जिनकल्प मार्ग उच्छिन्न हो गया है। शिवभूति से नही रहा गया। उसने कहा कि उच्छिन्न कैसे हो गया है। मैं इस मार्ग का आचरण कर आपको बताता हूँ। यह कहकर वह नग्न दिगबर हो गया और तब से यह दिगम्बर मत प्रचलित हुआ।

यद्यपि दोनो कथाएँ एक दूसरे के उत्तर मे लिखी हुई प्रतीत होती है फिर भी यह निश्चित है कि महावीर के अनुयायियो मे किसी प्रसग को लेकर कोई विवाद उत्पन्न हुआ है जिससे दिगबर श्वेताबर ये दो प्रमुख धाराएँ बन गई। और इन दोनो धाराओ सम्बन्धी उक्त विवाद कुन्दकुन्द के समक्ष अवश्य मौजूद था।

कुन्दकुन्द का [illegible] इस बात को सिद्ध करता है कि उनके समय मे चेल

आदि अनेक भेद हो गये इस तरह कुन्दकुन्द को जो जैन धर्म मिला उसमें मतभेद मतभेद हो गये जिनके निराकरण की कुन्दकुन्द को आवश्यकता हुई।

शासन की दो प्रमुख धारायें दिगम्बर और श्वेताम्बर

भगवान महावीर के शासन को स्वीकार करने वाली आज दो प्रमुख धाराएँ उपलब्ध हैं। इनमें एक दिगम्बर है तो दूसरी श्वेताम्बर है। स्थूल भेद तो इनमें यही है कि दिगम्बर मुक्ति के लिए नग्नत्व को अनिवार्य मानते हैं जबकि श्वेताम्बर उसकी अनिवार्यता स्वीकार नहीं करते। लेकिन अम्बर (वस्त्र) श्वेत क्यों धारण किये जाते हैं इसका कोई उपयुक्त समाधान नहीं मिलता सिवा इसके कि अन्य जैनेतर सम्प्रदायों से वे पृथक पहचाने जा सकें। ऐसा नहीं है कि मुक्ति के लिए श्वेत वस्त्र ही अनिवार्य है। क्योंकि श्वेताम्बर आगमों में अन्य लिंग में भी मुक्ति मानी गई है। लाल वस्त्र यद्यपि वैराग्य के लिए उपयुक्त माने जाते पर लाल वस्त्रों का उपयोग बौद्ध भिक्षु करते थे जिन्हें रक्ताम्बर भी कहा जाता था अतः दिगम्बर तथा रक्ताम्बरों से अपने में भिन्नता लाने के लिए संभवतः श्वेत वस्त्रों को धारण किया जाना वैध ठहराया गया होगा। इसके अतिरिक्त और भी मतभेद हैं जो प्रायः सर्वत्र प्रसिद्ध हैं और आधुनिक साहित्य में प्रायः इनका उल्लेख है। यहाँ ये दो प्रमुख धाराएँ कैसे हुईं इसका अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन हम इस प्रकरण में करेंगे।

दिगम्बर ग्रन्थों में श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति के बारे में लिखा है कि —

विक्रम राजा की मृत्यु के बाद संवत् १३६ में जिनचन्द्र के द्वारा श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति हुई है। उज्जयिनी में जब आचार्य भद्रबाहु का संघ विहार करता हुआ आया तो अष्टांग निमित्तज्ञान से आचार्य ने यह जान लिया कि यहाँ १२ वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ेगा। संघ की सुरक्षा के लिए आचार्य की आज्ञा पाकर संघ के समस्त साधु दक्षिण देश की तरफ चले गये। उनमें से एक शान्त्याचार्य नाम के साधु सौराष्ट्र देश के वल्लभीपुर नगर में विहार करते हुए आ गये। लेकिन सौराष्ट्र में भी घोर अकाल की विभीषिका फैल गई। क्षुधा से पीड़ित होकर लोग साधुओं का उदर विदार कर उसमें से अन्न खाने लगे। यह देखकर श्रावकों की प्रार्थना से तथा निर्लज्जता को देखकर साधुओं ने कम्बल ओढ़ना और मांगने के भी डंडे का उपयोग करना प्रारम्भ कर दिया। क्रमशः नग्नता छिपाने के लिए लाठी कम्बल आदि का ग्रहण के लिए तथा करों में अन्न को सुविधापूर्वक लाने के लिए [illegible] रखने लगे।

जब यह दुर्भिक्ष समाप्त हो गया तो शान्त्याचार्य ने समस्त साधुसंघ को एकत्र किया और उनसे पूर्ववत् समीचीन मार्ग ग्रहण करने के लिए कहा। किन्तु एक जिनचन्द्र नाम के साधु ने इसका विरोध किया और कहा कि अब [illegible] परित्याग करने का समय नहीं है। गुरु शान्त्याचार्य का दण्डा सहन न करके [illegible] देव हुआ है और यदि फिर वहाँ बलि अपनाई गई तो [illegible] का कारण भी हुआ

"जैन शासन मे वस्त्रधारी कभी सिद्ध नही हो सकता भले ही वह तीर्थंकर क्यो न हो। केवल नग्नता ही एक मोक्ष मार्ग है शेष सब उन्मार्ग ही है।[1]

ये प्रकरण वतलाते है कि कुछ श्रमण नग्नता के विरोध मे वस्त्रो को भी अपनाते थे। मोक्ष पाहुड मे और भी ऐसे ही प्रकरण है। जिससे उस समय श्रमणाभासो की वहुलता का वोध होता है।

इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी श्रमणाभास थे जिनका आगम मे स्पष्ट वर्णन है और उनके लक्षण दिये है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी उनकी ओर सकेत किया है। भाव पाहुड मे वे लिखते है—

"पासत्थ भावणाओ अणाइकाल अणेयवाराओ।
भाऊण दुह पत्तो कुभावणा भाववीएहि ॥१४॥

अर्थात् पार्श्वस्थ आदि भावनाओ को अनादिकाल से अनेक प्रकार पाकर इस जीव ने कुभावना के फल से अनेक दु ख उठाये है।

ये पार्श्वस्थ भावनाएँ पाँच प्रकार की है—पार्श्वस्थ, कुशील, ससक्त, अवसन्न और स्वच्छद। वास्तव मे ये पाँच प्रकार के श्रमणाभास है जिनकी प्रवृत्ति को यहाँ भावना रूप से उल्लेख किया है। कुन्दकुन्द के समय मे इनका भी पर्याप्त प्रचार था इनके सम्बन्ध मे हम यहाँ कुछ विस्तृत वर्णन देगे।

अन्य ग्रन्थो मे इसका क्रम इस प्रकार से दिया है—अवसन्न, यथाछद, पार्श्वस्थ, कुशील, ससक्त।[2]

इनमे से अवसन्न मुनि का स्वरूप निम्न प्रकार वताया है—

१ "कीचड मे फसे हुए मार्ग भ्रष्ट पुरुष को अवसन्न कहते है। यह द्रव्य की अपेक्षा से अवसन्न हैं और जो भाव से अवसन्न होता है वह अशुद्ध चारित्री है। यह भाव अवसन्न साधु उपकरणो मे आसक्ति रखता है, वसति का आसन के प्रतिलेखन मे, स्वाध्याय मे, विहारभूमि के शोधन मे, आहार शुद्धि मे, ईर्यासमिति आदि के पालन मे, स्वाध्याय काल के अवलोकन मे, स्वाध्याय के समाप्त करने मे, चर्या मे प्रमादी और अनुत्साहित रहते है, षडआवश्यक पालन करने मे आलसी रहते हैं। एकान्त या जनसमुदाय मे उन आवश्यको का पालन करते हुए भी उन्हे केवल वचन, और काय से करते है। भाव पूर्वक नही करते। इस प्रकार चारित्रपालन मे जो कष्ट अनुभव करते है वे अवसन्न साधु हैं।

---

१ णवि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो
णग्गो विमोक्खमग्गो, सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥२३॥ सू० प्रा०

२ हि पुण ते ओसण्णा णिच्चे जे वावि णिच्च पासत्था।
जे वा सदा कुसीला ससत्ता वा जहा छंदा ॥ १९४९ ॥
न० आ०

(वस्त्र) धारी साधु होते थे इसी से इनका नाम अचेलक आचार्य या अचेलाचार्य और एलाचार्य पड़ गया होगा।

श्रमणाभासों का बाहुल्य

कुन्दकुन्द के समय में अनेक ऐसे नग्न श्रमण थे जिनकी चर्या शास्त्र के प्रतिकूल थी और कुन्दकुन्द को उनकी आलोचना करनी पड़ी थी जिन्हें जैनशास्त्रों में श्रमणाभास कहा है। अपने सूत्र प्राभृत में उन्होंने ऐसे श्रमणाभासों की अच्छी खबर ली है। वे लिखते हैं —

जिसकी उत्कृष्ट सिंहचर्या है जो बहु परिकर्मा हैं अर्थात् अनेक प्रकार सिंह निष्क्रीडितादि तपश्चरण को करते हैं जिनके ऊपर गुरुभार है—जो संघ को सब प्रकार से निश्चिन्त रखते हैं यदि वह भी स्वच्छन्द विहार करे तो उसे पाप लगता है और वह मिथ्यात्व भागी होता है।[1]

इस कथन से स्पष्ट है कुछ श्रमण मुनि स्वच्छन्द भी विहार करते थे जिन पर कुन्दकुन्द को आपत्ति थी और वे इससे समय (सिद्धान्त) का विनाश मानते थे।

भावसंग्रह आदि ग्रन्थों में जिन कल्पी और स्थविरकल्पी इस प्रकार मुनियों के दो रूपों का कथन है। जिन कल्पी मुनि उत्तम संहनन के धारी होते हैं पैर में कांटा या आँख में रज कण पड़ जाने से भी स्वयं नहीं निकालते न किसी से निकालने को कहते हैं और सदा एकाकी विहार करते हैं।

किन्तु स्थविरकल्पियों को यह आदेश है कि वे संघ में ही विहार करें। इस पंचम काल में कोई उत्तम संहनन के धारी नहीं होते अतः स्थविरकल्प ही उनके लिये एक विधेय मार्ग है।[2] अतः जो इस मार्ग को छोड़कर स्वच्छन्द आचरण करते थे वे कुन्दकुन्द की दृष्टि में स्वच्छाचारी थे और ऐसे स्वच्छाचारियों के बारे में उन्होंने बहुत कुछ कहा है। आगे इसी प्राभृत में उन्होंने सच्चे साधुओं का स्वरूप बतलाते हुए पुनः उन श्रमणाभासों की ओर संकेत किया है —

जो साधु थोड़ा या अधिक परिग्रह रखता है वह निन्दनीय है क्योंकि साधु तो परिग्रह रहित होता है।[3]

और भी देखिये—

---

१ उक्किट्ठसीह चरियबहुपरियम्मो य गुरुयभारो य
जो विहरइ सच्छन्दं पावं गच्छेदि होदि मिच्छत्तं ॥९॥ सू० प्रा०

२ देखो देवसेन कृत भावसंग्रह श्लोक ११९ से १२२ तक।

३ जस्स परिग्गहगहणं अप्पं बहुयं च हवइ लिंगस्स
सो गरहिउ जिणवयणे परिगहरहिओ निरायारो ॥१९॥ सू० प्रा०

कोई कुशील होते है जो इन्द्रजाल आदि के द्वारा मनुष्यो को आश्चर्य उत्पन्न करते है।

कोई कक्वकुशील होते है जो विद्यायोगादि द्वारा परद्रव्य का अपहरण तथा दभ का प्रदर्शन करते है।

कोई कुहन कुशील होते है जो इन्द्रजाल आदि के द्वारा मनुष्यो को आश्चर्य उत्पन्न करते हैं।

कोई सम्मूर्छन कुशील होते है जो वृक्ष, लताओ, मे फलफूल लगे हुए दिखा देते हैं, गर्भस्थापनाआदि करते है।

कोई प्रदातन कुशील होते है जो त्रसो, कीडो, वृक्षादिको, फूलफलादिको, का गर्भ का विनाश करते है, उनका अभिसरण दिखाते हैं तथा शाप देते है।

इनके अतिरिक्त जो क्षेत्र, हिरण्य, पशु आदि परिग्रहो को स्वीकार करते हैं, हरितकदफल का भक्षण करते है, कृत, कारित, अनुमोदना से पिण्ड, उपधि, वसतिका को ग्रहण करते हैं, स्त्रियो की कथाओ मे रत रहते है। मैथुन करते है, अविवेकी एव आस्रव की आधार वस्तुओ मे लगे रहते है वे सव कुशील है। एव ढीठ, प्रभत्त और विकृत वेष धारण करने वाले भी कुशील होते है।

४ समक्त मुनि वे होते है जो चारित्रप्रिय मुनियो मे चारित्र प्रेमी वन जाते हैं और अप्रिय चारित्र वालो मे अप्रिय चारित्री वन जाते है। ये नट के समान अनेक रूपो को धारण करते है। पन्चेन्द्रिय विपयो मे आसक्त रहते हैं। ऋद्धिगारव, रसगारव एव मातगारव मे आसक्त रहते हैं। स्त्री के विपय मे सक्लिष्ट परिणाम रखते है। गृहस्थो से अत्यन्त प्रेम करते है। अवसन्न मुनियो मे अवसन्न, पार्श्वस्थो मे पार्श्वस्थ, कुशीलो मे कुशील और स्वच्छन्दो मे स्वच्छन्द वन जाते हैं। यही इनका नट्वल आचरण है।

५ यथाछद मुनि वे मुनि होते हैं जो आगम के विरुद्ध स्वेच्छा कल्पित पदार्थो का निरूपण करते है। अर्थात् वर्षा होने पर जल से भीगना असयम है। छुरे या कैंची से केशो का कर्तन कराना अच्छा है। नही तो आत्म विराधना होती है, भूमि शय्या तृणपुज मे वनाकर उसमे रहने मे कोई जीवो को वाधा नही होती, उद्दिष्ट भोजन मे कोई दोप नही है। आहार के लिये सारे गाव मे घूमने से जीव हिसा होती है अत घर मे लाकर भोजन करने मे साधु को कोई दोप नही है, पाणिपात्र मे आहार करने मे परिशातन दोप होता है। इत्यादि उत्सूत्र निरूपण करते हैं।

इस समय कोई यथोक्त आचरण करने वाले मुनि नही हैं इत्यादि भाषण करने वाले यथाछन्द मुनि होते है।[1]

इस प्रकार से पांच प्रकार के श्रमणाभासो के उल्लेख आगम मे मिलते हैं। आचार्य कुदकुद के समय मे इनका अत्यधिक प्रचार था। अत, कुदकुद ने इन पार्श्व-

1 'भगवती आराधना' आश्वास ७ गा० १९५० की विजयोदया टीका

२ पार्श्वस्थ साधु का शब्दार्थ है पास में स्थित। अर्थात् जैसे कोई पथिक मार्ग को जानता हुआ भी उस मार्ग से हटकर उसके समानान्तर चले तो वह मार्ग पार्श्वस्थ कहलाता है वैसे ही यह पार्श्वस्थ साधु भी निरतिचार संयममार्ग को जानता है तो भी उस पर नहीं चलता किन्तु संयम मार्ग के समीप चलता है। यह साधु एकान्त में असंयमी भी नहीं है। और न निरतिचार संयम का ही पालन करता है। वसतिका के निर्माता उसका संस्कार करने वाले तथा 'आप ठहरिये' इस प्रकार कहकर साधु को वसतिका देने वाले तीनों ही शय्याधर कहलाते हैं। इनके यहाँ नित्य आहार लेना (जो नहीं लेना चाहिए) आहार के पूर्व और पश्चात् दाता की प्रशंसा करना उत्पादन एषणा आदि दोषों से दूषित आहार ग्रहण करना नित्य एक ही वसति में रहना एक ही संस्तर पर सोना एक ही क्षेत्र में रहना गृहस्थों के घर के अन्दर बैठना गृहस्थों के उपकरणों से अपना काम करना दुष्प्रमार्जित या अप्रमार्जित वस्तु को ग्रहण करना सुई कैंची नखच्छेदनिका(नहनी) संडासी पिल्ली उस्तरा कर्णमल निकालने की सींक चमड़ा इत्यादि का ग्रहण करना। सीना धोना झटकना रंगना आदि कर्मों में लगे रहना ये सब पार्श्वस्थ साधु के लक्षण हैं। जो क्षार चूर्ण सौवीर नमक घी आदि पदार्थों को अकारण ही अपने पास रखते हैं वे भी पार्श्वस्थ हैं। उपकरणबकुश साधु जो रात्रि में यथेष्ट शयन करते हैं इच्छानुसार संस्तर का सब उपयोग करते हैं वे भी पार्श्वस्थ साधु हैं तथा दिन में सोने वाले देहबकुश साधु भी पार्श्वस्थ हैं। जो पैर धोते हैं तेल की मालिश करते हैं गण का पोषण कर आजीविका करते हैं तिपचर की सेवा करते हैं वे पार्श्वस्थ साधु हैं। सार यह है कि जो गुप्त शील के कारण अकारण ही अयोग्य का सेवन करते हैं वे पार्श्वस्थ साधु हैं।

३ कुत्सित शील वाले साधु कुशील कहलाते हैं। ये कुशील साधु अनेक प्रकार के होते हैं। इनमें कोई कौतुकशील साधु होते हैं जो औषधि विलेपन एवं विद्याओं के प्रयोग से राजद्वार पर कौतुक दिखाकर सौभाग्य प्राप्त करते हैं।

कोई भूतिकर्मकुशील होते हैं—जो मंत्रित की गई भूति से, धूलि से, सरसों से, पुष्पों से, जल से किसी की रक्षा या किसी को वश में करते हैं।

कोई प्रसेनिकाकुशील होते हैं जो अंगुष्ठ प्रसेनिका अक्षर प्रसेनिका प्रदीपप्रसेनिका शशिप्रसेनिका स्वप्न प्रसेनिका आदि विद्याओं के द्वारा लोकरंजन करते हैं।

कोई अप्रसेनिक कुशील होते हैं जो विद्या मन्त्र औषध प्रयोगों से असंयतजनों की चिकित्सा करते हैं।

कोई निमित्तकुशील होते हैं। अष्टांग निमित्तज्ञान से लोगों को शुभाशुभ कहते हैं।

कोई आजीवकुशील होते हैं जो अपनी जाति व कुल का प्रकाश कर भिक्षादि उत्पन्न करते हैं अथवा किसी के उपद्रव के कारण दूसरे की शरण में जाते हैं या अनाथशाला में प्रवेश कर अपनी चिकित्सा कराते हैं। यह आजीव कुशील है।

बोधपाहुड के अन्त मे जो दो गाथाएँ हमे मिलती है उनमे से प्रथम मे लिखा है शब्द विकार रूप परिणत भाषा सूत्रो मे जो जिनेन्द्र भगवान ने कहा है वैसा ही भद्रबाहु के शिष्य ने जानकर कहा है।

फिर दूसरी गाथा मे लिखा है बारह अगयुक्त चौदह पूर्व के विपुल विस्तार को धारण करने वाले श्रुतज्ञानी भद्रबाहु गमक गुरु भगवान जयवन्त हो। अथवा श्रुतज्ञानी भद्रबाहु जिनके गमक गुरु है वे भगवान जयवन्त हो।

इन दो गाथाओ पर से कहा जाता है कि भद्रबाहु कुदकुद के गुरु थे।

बोध पाहुड के टीकाकार श्रुतसागर ने 'भद्रबाहु शिष्येण' पद का अर्थ भद्रबाहु के अन्तेवासी विशाखाचार्य जिनके दूसरे नाम अर्हद्बलि और गुप्तिगुप्त है किया है तथा दूसरी गाथाओ मे बारह अगयुक्त चतुर्दश पूर्वांग के धारी गमको के गुरु उपाध्याय भगवान इन्द्रदिको के आराध्य जयवन्त हो ऐसा अर्थ किया है।

श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार इसमे से प्रथम गाथा के पद 'भद्रबाहु शिष्येण' का अर्थ भद्रबाहु का शिष्य तो करते है पर भद्रबाहु को श्रुतकेवली भद्रबाहु नही मानते। प्रत्युत द्वितीय भद्रबाहु मानते है। देखो समन्तभद्र पृष्ठ १८४।

प० कैलाशचन्द जी शास्त्री 'भद्रबाहु शिष्येण' पद मे भद्रबाहु को श्रुत केवली मानकर शिष्य का अर्थ कुदकुद करते है और समयसार की प्रथम गाथा के आधार पर समर्थन कर कुदकुद द्वारा भद्रबाहु को परपरागत गुरु मानना स्वीकार करते है।

उपर्युक्त इन सभी विप्रतिपत्तियो पर हमारी अपनी जो प्रतिक्रिया है उसका यहाँ सक्षिप्त सार देते है—

बोध प्राभृत की जिन अन्तिम दो गाथाओ का उल्लेख हम कर आये हैं उसके पहले एक गाथा इस प्रकार है—

> रूवत्थ सुद्धत्थ जिणमग्गे जणवरेहि जह भणिय
> भव्वजणबोहणत्थ छक्कायहियकरं उत्त ॥६०॥

अर्थात् जिन मार्ग मे जैसा शुद्ध निर्ग्रन्थ रूप का आचरण बताया है भव्यजनो को समझाने के लिए षट्काय के लिए हितकारी वैसा ही निर्ग्रन्थ आचरण मैंने बतलाया है।

गाथा मे 'छक्काय हितकर उत्त' वाक्य देकर कुदकुद ने अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करने का [illegible] किया है। बोध पाहुड की जब हम पहली गाथा देखते है तो बराबर कुदकुद ने 'छक्काय हितकर' कहने की प्रतिज्ञा की है, जैसा कि इस गद्यार्थ वाक्य से प्रकट है

> 'वुच्छामि समासेण छक्काय हियकर सुणसु'

इस प्रारम्भ मे कुदकुद ने जिस प्रतिज्ञा को किया है अन्त मे उस प्रतिज्ञा को पूरा करने का उल्लेख किया है।

स्यादि भावनाओं से अनेक दुःखों का उठाना फल लिखा है। जिन यथाछन्द श्रमणाभासों के वर्णन में यह लिख आए हैं कि वे यथाछन्द मुनि 'कोई इस समय ठीक आचरण पालने वाला नहीं हो सकता' इस प्रकार भाषण करते हैं कुन्दकुन्द ने उनकी भी थोड़ी भाव पाहुड में दी है। वे लिखते हैं कि 'चारित्र मोह से युक्त व्रत समिति से रहित शुद्ध भावों से भ्रष्ट कोई ऐसा कहते हैं कि यह काल ध्यान के योग्य नहीं है। कोई अभव्य पुरुष जो सम्यक्त्व ज्ञानहीन तथा मोक्ष मार्ग से मुक्त है और संसार सुखों में अनुरक्त है कहता है कि यह काल ध्यान करने का नहीं है। जो पाँच महाव्रत पाँच समिति और तीन गुप्तियों के पालन में मूढ़ है वह अज्ञानी कहता है कि यह काल ध्यान का नहीं है। इस भरत क्षेत्र दुःषमा काल में आत्म स्वभाव रत साधु के धर्मध्यान होता है जो यह नहीं मानता वह अज्ञानी है।'[1]

उक्त कथन स्पष्ट उन यथाछन्द या स्वच्छन्द श्रमणाभासों के सम्बन्ध में है जो इस काल में किसी को यथोक्त आचरण वाला नहीं मानता।

इन श्रमणाभासों के अतिरिक्त कुछ जैनाभास भी हैं जिन्हें श्रमणाभास ही कहना चाहिए। इन्द्रनन्दि ने अपने नीतिसार ग्रन्थ में इनका इस प्रकार उल्लेख किया है

गोपुच्छिकः श्वेतवासा द्राविडो यापनीयकः
निःपिच्छश्चेति पंचैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः

अर्थात् गोपुच्छक श्वेतपट द्राविड यापनीय निःपिच्छ ये पाँच प्रकार के जैनाभास हैं।

इनमें गोपुच्छकों के लिए लिखा है कि ये स्त्रियों को दीक्षा का विधान करते हैं क्षुल्लक और वर्णों के अधिकारी हैं चमरी गाय के बालों वाली पिच्छी के लिए ग्रहण बनाते हैं तथा उसे छठा गुणव्रत बतलाते हैं। श्वेतपट प्रसिद्ध हैं उनके आगम भी उपलब्ध हैं अतः उनका मत वहीं से जाना जा सकता है।

तीसरे द्राविड हैं ये सावद्य पदार्थ को प्रासुक मानते हैं और खड़े होकर साधु को आहार लेने का निषेध करते हैं।

यापनीय साधु श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों के सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं अर्थात् दिगम्बरों की तरह मुनि के लिए नग्नता अनिवार्य समझते हैं और श्वेताम्बरों की तरह स्त्री को भी मुक्ति स्वीकार करते हैं रत्नत्रय की पूजा करते हैं कल्प का वाचन करते हैं केवलियों का कवलाहार मानते हैं।

निःपिच्छक सब प्रकार की पिच्छिकाओं का चाहे वह मयूर की हो गोपुच्छ की हो अथवा ऊनी रजोहरण हो निषेध करते हैं डाढसी गाथाओं में लिखा है कि मयूर

२ देखो मोक्ष पाहुड कुन्दकुन्द गाथा ७३ ७४, ७५ ७६।

स्थान चन्द्रगुप्त के नाम पर चन्द्रगिरि तो कहा जाता है भद्रगिरि नही। इससे भी दक्षिण मे चन्द्रगुप्त अपर नाम विशाखाचार्य की ही प्रसिद्धि रही है। अत. यह बहुत कुछ सभव है कि दक्षिणवासी कुन्दकुन्द ने दक्षिण मे आद्य धर्म की जागृति करने वाले विशाखाचार्य को अपना कौलिक (कुलामात्व) गुरु मानकर अपने को उनका शिष्य घोपित कया हो।

शिलालेखो मे शक सवत् १०८५ के शिलालेख , न० ४० : मे जो आचार्यों की परम्परा दी है उसमे चन्द्रगुप्त के वाद ही पद्मनदि का उल्लेख है यही क्रम १०५० सवत् के शिलालेख मे है अतः विशाखाचार्य अवश्य ही कुन्दकुन्द के परम्परागत गुरु होना चाहिए। अत कुंदकुंद को भद्रवाहु की शिष्यता सिद्ध नही होती। गाथा न० ६२ को लेकर भी जिसमे श्रुतज्ञानी भद्रवाहु के जय जयकार की वात कही जाती है भद्रबाहु को कुंदकुंद का गुरु नही कहा जा सकता। वहाँ श्रुतज्ञानी भद्रवाहुर्गमकगुरुर्यस्मस यह वहुव्रीहि समासपरक अर्थ करना चाहिए। इससे विशाखाचार्य ही सिद्ध होते है। भद्रवाहु नही। और इस प्रकार विशाखाचार्य से दोनो गाथाओ का सम्वन्ध भी ठीक वैठ जाता है।

भद्रवाहु और कुन्दकुन्द का गुरु शिष्य नाता जोडने के लिए जो यह कहा जाता है कि समयसार की पहली गाथा मे ,सुयकेवलीभणियं' पद आया उसका सकेत भद्रवाहु श्रुतकेवली की तरफ है यह असत्य है। उसका अभिप्राय तो इतना है कि समयसार एक नय प्रधान रचना है जिसमे निश्चय व्यवहार नय की मुख्य गौणता को लेकर आत्म स्वरुप की विवेचना की गई है। उक्त दोनो नय श्रुतज्ञान के अवयभूत है और श्रुतज्ञान के अधिपति श्रुत केवली होते है अत समयसार को श्रुतकेवली भणित कहा है। उसमे श्रुत केवली भद्रवाहु की ओर सकेत नही है। इस सम्वन्ध मे विस्तार पूर्वक कथन पहले अध्याय मे देखना चाहिए।

इस तरह हम देखते हैं कि श्रुत केवली भद्रवाहु और कुन्दकुन्द का गुरु शिष्य सम्बन्ध नहीं है। बोध पाहुड की गाथाएँ जिनमे भद्रवाहु के शिष्य का उल्लेख है वे प्रक्षिप्त जैसी हैं। श्रुतसागर ने भद्रवाहु शिष्य का अर्थ जो विशाखाचार्य किया है वह असम्भव नहीं है प्रत्युत वे कुन्दकुन्द के परपरागत गुरु हो सकते हैं। साक्षात् गुरु इसलिए नहीं है कि कुंदकुंद के इतने प्राचीन होने का कोई समर्थन नही मिलता। अनेक स्थानो पर द्वितीय भद्रवाहु को कुंदकुंद का गुरु माना है। इस मान्यता मे भी कुछ कथन है जो अवश्य विचारणीय है। पट्टावलियो मे जहाँ कुन्दकुन्द वि० स० ४९ मे पद पर बैठना लिखा है उस पर अविश्वास करने का कोई कारण नही प्रतीत होता। समयसार की मंगल गाथा मे श्रुतकेवली शब्द से प्रमाणित नही होता कि वे भद्रवाहु श्रुत केवली है।

कुन्दकुन्द की षट्खंडागम टीका

इन्द्रनंदि ने श्रुतावतार मे षट्खंडागम के प्रारम्भ के तीन खण्डो पर कुन्दकुन्द

भूतवलि तथा जिनचन्द्र (कुन्दकुन्द के गुरु) का कल्पना कर लेना चाहिए। इस प्रकार २० और ६० वर्ष मिलाकर ८० वर्ष जब लोहाचार्य को हो गये तब कुन्दकुन्द हुए ऐसा मानना चाहिए।

लेकिन मुख्तार सा० की इस कल्पना का क्या आधार है इसका उन्होने कोई उल्लेख नही किया। लोहाचार्य के वाद चार आरातीयो का समय २० वर्ष क्यो होना चाहिए यह समझ मे नही आया। क्यो नही एक आरातीय का काल २० वर्ष मानकर चारो का समुदाय काल ८० वर्ष मानना चाहिए। इसी प्रकार अर्हद्बलि आदि ६ आचार्यों का काल १०, १० वर्ष का ही मानना चाहिए। १५, १५ वर्ष या अधिक क्यो नही मानना चाहिए ? जब निराधार कल्पना ही करना हो तो उसके लिए कोई प्रतिवन्ध नही होना चाहिए। यह बात दूसरी है कि श्रद्धानुसार कुदकुंद का कोई एक समय निश्चित कर वहाँ तक हिसाव वैठाने के लिए हम आचार्यो के समय विभाग की मनमानी कल्पना कर डाले। मुख्तार साहव ने सभवत यही किया जान पडता है, विद्वज्जन वोधक मे वीर निर्वाण सवत् ७७० मे कुन्दकुन्द तथा उमास्वामी का होना लिखा है। अत ७७० वर्ष की सगति वैठाने के लिए उन्हे उक्त सब कल्पना करना पडी है इसलिए खीचखाचकर वे कुन्दकुन्द का समय वीर निर्वाण सवत् ७६३ तक ले गये है जो लगभग विद्वज्जन वोधक के समय से मिल जाता है। परन्तु विद्वज्जन वोधक का वह उल्लेख किस पट्टावली, शिलालेख ताम्रपत्र या ग्रन्थ के आधार पर है यह कुछ भी पता नही है। जहाँ तक विद्वज्जनवोधक के कर्त्ता का प्रश्न है वे प० पन्नालालजी दूनीवाले हैं जो अत्यन्त आधुनिक विद्वान है और जिनका मात्र उतना ही वजन है जितना हैं अपना मुख्तार साहव का है।

चार आरातियो के २० वर्ष मे होने की मुख्यार सा० की कल्पना का समर्थन श्री प्रो० हीरालाल जी ने धवला की प्रस्तावना मे इस प्रकार किया है 'लोहार्य के पश्चात् चार आरातीय यतियो का जिस प्रकार इन्द्रनदि ने एक साथ उल्लेख किया है उससे जान पडता है कि सभवत ये एक ही काल मे हुए हैं।' इसी से श्रीयुक्त प० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने उन चारो का एक समय २० वर्ष अनुमान किया है लेकिन यह समर्थन प्रोफेसर सा० का उचित नही जान पडता। इन्द्रनदि ने चारो के नाम एक साथ इसलिए गिनाए है कि इन चारो की गुरु परम्परा का कोई उपदेश उनके पास न था अत साधारण नाम गिना देने के लिए चारो को एक साथ ही लिखा जा सकता था। विस्तारपूर्वक कथन करने के बाद आगे अजानकारी मे जब उसी कथन को सक्षिप्त करना होता है तब इसी तरह अवशिष्ट नामादि गिना दिये जाते है। अत इन्द्रनदि ने भी इस पद्धति का अनुकरण किया है न कि वे एक साथ हुए थे इसलिए एक साथ नाम गिना दिए गए है। अत. मुख्तार सा० ने ६८३ वर्ष बाद जो ८० वर्ष की कल्पना की है उससे कुदकुद के समय पर ठीक प्रकाश नही पडता।

द्वारा लिखे गये परिकर्म ग्रन्थ का उल्लेख किया गया है जबकि विबुध श्रीधर के अपने श्रुतावतार में कुन्दकुन्द से सिद्धान्त ज्ञान प्राप्त कर कुन्दकीर्ति ने प्रथम खण्ड के ऊपर परिकर्म नाम का शास्त्र बारह हजार श्लोक प्रमाण लिखा है ऐसा उल्लेख किया गया है। इन दोनों श्रुतावतारों में परिकर्म के कर्ता पर ही विवाद नहीं है किन्तु परिकर्म के रूप पर भी विवाद है। इन्द्रनन्दि उसे परिकर्म टीका कहते हैं और विबुध श्रीधर उसे परिकर्मशास्त्र कहते हैं। शास्त्र कहने का अभिप्राय यह है कि वह प्रथम खण्ड के समानान्तर या उसके आधार पर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ होगा। इसके अतिरिक्त इन्द्रनन्दि तीन खण्डों पर परिकर्म टीका बतलाते हैं और विबुध श्रीधर उसे प्रथम खण्ड पर ही शास्त्र बतलाते हैं। इस प्रकार श्रुतावतार से और पट्टावली में जो कुछ लिखा गया है उसमें परस्पर बहुत अन्तर है।

अब रहा मर्करा का ताम्रपत्र उसमें कुन्दकुन्द के समय की चर्चा तो है ही नहीं प्रत्युत उसके लेख का निष्कर्ष भी यह नहीं कहता कि कुन्दकुन्द अमुक समय में होने चाहिए। उसमें केवल इतनी ही चर्चा है कि कुन्दकुन्द के वंश में तोरणाचार्य हुए जो शाल्मली ग्राम में आकर रहे उनके शिष्य पुष्पनंदि थे और पुष्पनंदि के शिष्य प्रभाचन्द्र थे। मात्र इस कथन पर से यह सार निकाल लेना कि कुन्दकुन्द के अन्वय में तोरणाचार्य हुए हैं अतः तोरणाचार्य से १५० वर्ष पहले कुन्दकुन्द होना चाहिए एक व्यर्थ की कल्पना है। यदि इस प्रकार कुन्दकुन्दान्वय में होने वाले मुनियों और गृहस्थों के आधार पर से हम कल्पना करें तो कुन्दकुन्द अर्वाचीन होते होते आज से १५० वर्ष के सिद्ध हो जायेंगे। आज भी ऐसे गृहस्थ हैं जिन्होंने अपने वंश का सम्बन्ध कुन्दकुन्द से जोड़ा है और अपना उपनाम कोन्द्य रखा है तब क्या यह कल्पना करना इतिहास की खोज कहलायेगा कि कुन्दकुन्द इन गृहस्थ सज्जन से १५० वर्ष पूर्व हुए हैं। अतः मर्करा के ताम्रपत्र की बात हम यहीं छोड़ देते हैं। और उक्त पट्टावली तथा श्रुतावतारों पर आते हैं।

विद्वानों ने अधिकांश इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार के कथन के आधार पर ही कुन्दकुन्द के समय की खोज की है। श्री प० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने लिखा है[1] कि इन्द्रनन्दि ने महावीर निर्वाण के बाद जो आचार्यों की परम्परा दी है वह ६८३ वर्ष की है इस परम्परा में अन्तिम आचार्य लोहार्य या लोहाचार्य हुए हैं। यहाँ तक कुन्दकुन्द की कोई चर्चा नहीं है अतः वीर निर्वाण के ६८३ वर्ष बाद ही कुन्दकुन्द हुए हैं। लेकिन ६८३ वर्ष बाद भी वे कब हुए हैं इस प्रश्न के समाधान के लिए उनका कथन है कि लोहाचार्य के बाद २० वर्ष का समय तो चार आरातीयों का कल्पना करना चाहिए और इसके बाद दस दस वर्ष का समय क्रम से अर्हद्बलि माघनन्दि धरसेन पुष्पदन्त

---

१ देखो समन्तभद्र पृष्ठ १५१

महान आचार्य के द्वारा परिकर्म जैसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ का रचा जाना सर्वथा उचित है क्योकि कुदकुद के उपलब्ध ग्रन्थो से तो उनके द्रव्यानुयोग और चरणानुयोम विपयक पाण्डित्य का ही वोध होता है। करणानुयोग विपय छूट-सा जाता है और कुदकुद जैसे महान आचार्य करणानुयोग के विपय मे मूक रहे यह कैसे सभव हो सकता है। अत परिकर्म कुदकुद की ही कृति होना चाहिए।'

इस सम्वन्ध मे हमारा कहना यह है कि समयसार प्रवचनसार के कर्ता एव गौतमगणधर के वाद ही स्मरण किये जाने वाले युग प्रतिष्ठापक कुदकुद जैसे महान आचार्यो की जिस कृति(परिकर्म) को धवला के रचयिता सूत्र विरुद्ध वताते है वह कुदकुद की कृति नही हो सकती है क्योकि परिकर्म के कथन को सूत्र विरुद्ध वताने वाले अनेक उदाहरणो की चर्चा स्वय प० कैलाशचन्द्र जी ने अपनी प्रस्तावना मे की है[1] अत उस परिकर्म की रचना से कुदकुद का महत्व वढने की जगह घटता ही है। उनकी प्रमाणिकता पर भी असर पडता है। उनके ज्ञान की परिपक्वता पर भी सन्देह होने लगता है। इन स्थितियो से कुदकुद को वचाने के लिए विवुध श्रीधर के कथन को ही साधार मानना चाहिए जिसमे परिकर्म के कर्ता कुदकीर्ति को माना है।

यह लिखना ऐतिहासिक तथ्यो के अनुरूप नही है कि यदि कुदकुद ने द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग पर लेखनी चलाई है तो उन्हे करणानुयोग पर भी चलाना ही चाहिए। जव यही सोचना है तो करणानुयोग पर ही क्यो प्रथमानुयोग पर भी उन्हे लेखनी चलाना चाहिए जैसा कि आचार्य जिनसेन ने करणानुयोग और प्रथमानुयोग दोनो पर अपनी लेखनी चलाई है।

वस्तुत वात यह है कि कोई भी लेखक अपनी रुचि या समय की परिस्थिति के अनुसार लेखनी चलाता है उसको यह आवश्यक नही है कि वह रुचि के वाहर या असामयिक भी लिखे। आचार्य कुदकुद के सामने जो तात्कालिक समस्याएँ थी उन्हे सुलझाने के लिए ही उन्हे समयसारादि ग्रन्थो की रचना करनी पडी थी। जिसकी चर्चा हम पिछले अध्याय मे कर आये हैं। अनात्मवाद का प्रचार, तान्त्रिक प्रवृत्तियाँ तथा महावीर के शासन की विशृंखलता ऐसी समस्याएँ थी जिन पर कुदकुद ने लिखना आवश्यक समझा और उसी के फलस्वरूप उक्त ग्रन्थो की वे रचना कर सके। ज्ञान होते हुए भी उन्हे यह आवश्यक नही थी कि करणानुयोगादि पर भी वे कुछ लिखते। इसलिए कुदकुद को ही परिकर्म का कर्ता मानने मे कोई सवल प्रमाण नही है।

प० जी ने परिकर्म को कुदकुद का वताने के लिए अनादि अत्तमज्झ वाली कुदकुद की जिस गाथा का मिलान परिकर्म के 'अत्देम णेव इदिए गेज्झ' वाले उद्धरण मे किया है उससे उल्टा परिकर्म कुदकुद की कृति सिद्ध नही होता। दोनो गाथाओ मे जब शब्दो का हेर फेर है तो उनके रचयिताओ मे भी हेर फेर होना चाहिए अर्थात्

१ देखो कुदकुद प्राभृतसंग्रह की प्रस्तावना पृ० २६, २९

जहाँ तक इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार की प्रामाणिकता का प्रश्न है उसे यदि स्वीकार भी कर लिया जाय तब भी नन्दिसंघ की पट्टावली को बिना किसी बाधक प्रमाण के अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। अतः जो नन्दिसंघ की पट्टावली को प्रमाणभूत मानकर उसके आधार से कुन्दकुन्द का समय निश्चित करना चाहें वे मुख्तार सा० के इस काल्पनिक समय को कैसे स्वीकार कर सकेंगे यह भी एक आशंका है।

कुन्दकुन्द का वीर निर्वाण संवत् ६८३ वर्ष बाद होने में जो सबसे बड़ा प्रमाण है वह है इन्द्रनन्दि का वह कथन जिसमें षट्खण्डागम के तीन खण्डों पर कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा परिकर्म ग्रन्थ लिखने का उल्लेख किया गया है। जिस षट्खण्डागम पर कुन्दकुन्द ने परिकर्म ग्रन्थ लिखा है उसके कर्ता भूतबलि पुष्पदन्त हैं जो इन्द्रनन्दि के अनुसार ६८३ वर्ष में नहीं हुए तब कुन्दकुन्द पहले कैसे हो सकते हैं अतः वे ६८३ वर्ष बाद ही कभी हुए हैं इसमें सभी इतिहासज्ञ जैन विद्वान एकमत हैं।

किन्तु विबुधश्रीधर कृत श्रुतावतार में परिकर्म का कर्ता कुन्दकुन्द को नहीं माना किन्तु कुन्दकुन्द से सिद्धान्त ज्ञान प्राप्त करने वाले शिष्य कुन्दकीर्ति को उसका कर्ता माना है। इस पर कुन्दकुन्द प्राभृत संग्रह के प्रस्तावना लेखक श्री पं० कैलाशचन्द्र जी की प्रतिक्रिया है कि 'विबुध श्रीधर ने इन्द्रनन्दि का अनुसरण करते हुए भी जो बीच में एक कुन्दकीर्ति की कल्पना कर डाली है वह एकदम निराधार है क्योंकि कुन्दकुन्द के शिष्य किसी कुन्दकीर्ति का कहीं संकेत तक नहीं है।'[1] मालूम नहीं पं० जी ने इसे एकदम निराधार कैसे बतलाया है जबकि इन्द्रनन्दि ने भी अपने कथन के समर्थन में कोई आधार नहीं बतलाया है। पं० जी ने अपनी प्रस्तावना में परिकर्म सम्बन्धी धवला टीका के अनेक उद्धरण उपस्थित किये हैं। लेकिन वे उद्धरण कुन्दकुन्द कृत परिकर्म के हैं और कुन्दकीर्तिकृत परिकर्म के नहीं हैं इसका क्या आधार है। यदि धवला में इन्हें कुन्दकुन्द के नाम से उल्लेख किया होता तो कुन्दकीर्ति की कल्पना निराधार मानी जा सकती थी लेकिन ऐसा कहीं भी उल्लेख नहीं है। पं० जी ने जितने उद्धरण दिये हैं उनसे मात्र यही सिद्ध होता है कि षट्खण्डागम के विषय से सम्बन्धित कोई परिकर्म ग्रन्थ था लेकिन इस बात को जैसे इन्द्रनन्दि कहते हैं वैसे ही विबुध श्रीधर भी कहते हैं उन उद्धरणों से वे कुन्दकुन्द कृत हैं या कुन्दकीर्ति कृत हैं इसका कोई संकेत नहीं मिलता। अतः पं० जी का यह लिखना कि 'हम लिख चुके हैं कि इन्द्रनन्दि ने परिकर्म के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उसका समर्थन परिकर्म के उद्धरणों से भी होता है। अतः परिकर्म के कर्तृत्व के विषय में भी इन्द्रनन्दि का कथन यथार्थ होना चाहिए' साधक नहीं है।

आगे इस कथन के आगे की पंक्तियों में परिकर्म का कुन्दकुन्द कर्तृत्व सिद्ध करने के लिए पं० जी ने यह भी लिखा है 'समयसार और प्रवचनसार के कर्ता [illegible]

---

१ देखो कुन्दकुन्द प्राभृत संग्रह की प्रस्तावना पृ० ३१

तव उन साधुओ ने १२ अगुल लम्वी चौडी एक पट्टी मे शान्तार्य की स्थापना कर उसको पूजना प्रारम्भ किया । तव से यह प्रथा अव तक श्वेताम्वरो मे चली आ रही है । इस प्रकार यदि हम देवी देवताओ की वात को असम्भव मानकर चले तो हमे वहुत-सी कथाओ और उदाहरणो को जिनका हम समय-समय पर प्रमाण देते है कल्पित कहना पडेगा ।

हमारी समझ मे विवुधश्रीधर ने जो जैनचार्यों की परम्परा दी है उसका समन्वय नन्दिसघ की पट्टावली से होता है । और नदि सघ की पट्टावली के सम्वन्ध मे प्रो० हीरालालजी का कहना है कि "जहाँ अनेक क्रमागत व्यक्तियो का समय समष्टि रूप से दिया जाता है वहाँ वहुधा ऐसी भूल हो जाया करती है । किन्तु जहाँ एक व्यक्ति का काल निर्दिष्ट किया जाता है वहाँ ऐसी भूल की सम्भावना वहुत कम होती है ।' इससे स्पष्ट है कि वे इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार मे तो भूल होना मानते है किन्तु नन्दिसघ की पट्टावली मे भूल होना स्वीकार नही करते अत उनके मन से इन्द्रनन्दि के श्रुताव-तार की अपेक्षा नदिसघ की पट्टावली अधिक प्रामाणिक है । हमारा कहना है कि विवुध श्रीधर कृत श्रुतावतार की आचार्य परम्परा पट्टावली के अधिक निकट है अत उसके प्रमाण कोटि मे होने की अधिक सभावना है । आगे हम थोडा इसी पर विचार करते हैं ।

नन्दिसघ की पट्टावली मे आचार्य कुदकुद को विक्रम सवत् ४९ मे पद पर वैठा हुआ वताया गया है । इसका अर्थ है कि महावीर-निर्वाण के वाद वे ५१९वे वर्ष मे पट्ट पर वैठे है किन्तु इन्द्रनन्दि के मतानुसार महावीर निर्वाण के वाद ६८३वर्ष वाद तक तो पुष्पदत भूतवलि तक का ही पता नही है और जव तक उनका पता नही चलता तव तक उनके द्वारा रचित षट्खण्डागम पर परिकर्म टीका लिखने वाले कुदकुद का पता लग ही कैसे सकता है । अत इन दोनो के विरोध मे सचाई खोजने के लिए सवसे वडी महत्वपूर्ण वात है कि परिकर्म की छानवीन करना जिसे कुदकुद कृत वताया जाता है । इस सवध मे इन्द्रनन्दि का कथन तो विवाद कोटि मे है अत उसे साक्षी रूप मे नही लिया जा सकता । हाँ उनके समर्थन मे कोई दूसरा प्रमाण मिलता हो तो उसे साक्षी रूप मे लिया जा सकता है परन्तु समस्त जैन प्रशस्तियो, आचार्य परम्पराओ 'पट्टावलियो मे इसका कोई समर्थन नही मिलता । धवला मे परिकर्म को कुदकुदाचार्य कृत होना सिद्ध नही होता । धवलाकार ने तो कोई उसका सकेत किया ही नही है किन्तु अनुमान करने का भी कोई ऐसा आधार नही मिलता जिससे परिकर्म का कुदकुदाचार्य कृत माना जाय । इसके विपरीत जिन उदाहरणो मे परिकर्म को सूत्र विरुद्ध वतलाया है उससे यही सिद्ध होता है कि परिकर्म कुदकुद कृत नही है । कुदकुद जैसे महान आचार्य की कृति को वीरसेन स्वामी सूत्र विरुद्ध वतलावे यह सभव नही है । ऐसी सूत्र विरुद्धता किसी अल्प आचार्य के साथ ही सभव हो सकती है । कुदकुद जैसे आरातीयो के साथ नही ।

रचयिता दो भिन्न व्यक्ति होना चाहिए। जब गाथा में भिन्नता है तब इसकी क्या आवश्यकता है कि उसमें मामूली सा हेर फेर बताकर उन्हें एक ही लेखक की कृति समझा जाय। अगर तो इस अनुमान को क्यों न प्राथमिकता दी जाय कि कोई भिन्न लेखक जब किसी की रचना का भाव लेता है तो अपनी छाप लगाने के लिए शब्दों का मामूली हेर फेर करना उसे आवश्यक हो जाता है इस परमाणु वाली गाथा में भी यही हुआ है। नियमसार में मिलने वाली यह गाथा कुन्दकुन्द की है और कुन्दकीर्ति ने उस गाथा में थोड़ा हेर फेर करके परिकर्म में रख लिया है। अतः हमारा विश्वास इससे और दृढ़ हो जाता है कि परिकर्म ग्रन्थ कुन्दकीर्ति की ही रचना है। किन्तु इन्द्रनन्दि ने उसे भूल से कुन्दकुन्द आचार्य का समझ लिया है। इसके अतिरिक्त इन्द्रनन्दि ने षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर परिकर्म नाम की व्याख्या का उल्लेख किया है जब कि परिकर्म के उद्धरण केवल प्रथम दो खंडों पर ही मिलते हैं जैसा कि पं० जी ने स्वयं लिखा है कि ये उद्धरण जीवट्ठाण और खुद्दाबंध की धवला के हैं। इससे यह निष्कर्ष सहज निकाला जा सकता है कि इन्द्रनन्दि को परिकर्म के विषय में यथार्थ जानकारी नहीं थी।

इसके विपरीत विबुध श्रीधर ने इस परिकर्म की टीका का इस प्रकार उल्लेख किया है 'कुन्दकीर्तिनामा षट्खण्डानां मध्ये प्रथमत्व खण्डानां द्वादशसहस्रप्रमित परिकर्म नाम शास्त्रं करिष्यति' यहाँ प्रथमत्व का कोई अर्थ नहीं बैठता अतः 'प्रथमद्व' जैसा कुछ पाठ होना चाहिए जिससे सिद्ध होता है कि कुन्दकीर्ति ने षट्खण्डागम के प्रथम दो खंडों पर परिकर्म नाम का ग्रन्थ लिखा था जैसा कि धवला के उद्धरणों से स्पष्ट है। अतः कहा जा सकता है इन्द्रनन्दि की अपेक्षा विबुध श्रीधर को परिकर्म की अधिक जानकारी थी और इसलिए उनका कथन अधिक प्रामाणिक है।

श्रीमान प्रोफेसर हीरालालजी ने विबुध श्रीधर के सम्बन्ध में लिखा है कि 'लेखक का समय आदि अज्ञात है और यह कथानक कल्पित जान पड़ता है अतएव उसमें कही गई बातों पर कोई जोर नहीं दिया जा सकता।'[1] लेकिन वह कल्पित क्यों है इस पर प्रोफेसर साहब ने कोई प्रकाश नहीं डाला। शायद कथानक में पद्मावती की स्तुति से नरवाहन राजा को पुत्र की प्राप्ति होने की बात असम्भव जानकर उसे कल्पित कहा गया है। लेकिन जैन शास्त्रों में ऐसी अनेकों कथाएँ भरी पड़ी हैं जिनमें व्यन्तर की कृपा से या उपद्रव से अमुक काम हुआ। श्वेताम्बरों की उत्पत्ति के लिए भी दिगम्बर शास्त्रों में एक व्यन्तर का ही सहारा लिया गया है। यह व्यन्तर पहले शान्त्याचार्य जैन साधु था। १२ वर्ष के दुर्भिक्ष के बाद शिथिलाचारी साधुओं को जब इसने शिथिल आचार छोड़ने के लिए कहा तो उन्होंने नहीं माना और शान्त्याचार्य को डंडे से मारा। शान्त्याचार्य मरकर व्यन्तर हुआ और उन्होंने इन शिथिल साधुओं पर उपद्रव करना प्रारम्भ किया।

---

१ 'षट्खण्डागम' प्र० खण्ड पु० पुस्तक की प्रस्तावना पृ० १८ पंक्ति २४, २५

शिला लेखो मे सर्वत्र कुदकुद को मूलसंघ का अधिपति मानकर आचार्यों की सारी परम्पराएँ उनके अन्वय मे मानी है। नदि सघ का उल्लेख भी शिला लेखो मे वहुतायत से पाया जाता है इसका भी कारण कुदकुद का प्रथम नाम पद्मनन्दि ही प्रतीत होता है यद्यपि इन्द्र नन्दि ने अपने श्रुतावतार मे तथा अन्यत्र भी अर्हद्वलि आचार्य द्वारा नन्दि सज्ञा उन्हे दी गई जो वार्षिक प्रतिक्रमण के लिए गुहाओ से आए थे ऐसा कथन किया है परन्तु ये गुहावासी अवश्य ही अपने को कुदकुद के अन्वय मे मानते होंगे और उनकी विशेष भक्ति रखते होगे अत पद्मनदि नाम पर उनकी नन्दि सज्ञा रख दी। अन्यथा गुहा से आने वालो का नन्दि नाम से क्या सम्बन्ध था यह समझ मे नही आता।

कुदकुद के नाम के साथ "मूल सघ" कैसे जुडा इस सम्वन्ध मे कुछ विद्वानों का कहना है कि कुदकुद दिगम्बर श्वेताम्बर मतभेद के वाद हुए हैं इसलिए श्वेताम्बर मे अपने को जुदा बताने के लिए कुन्दकुन्द को अपनी विचारधारा के लिए मूलसघ नाम देना पडा। इस तरह चूँकि दिगम्बर शास्त्रो मे विक्रम सवत १३६ मे श्वेताम्बर सघ की उत्पत्ति की चर्चा है अत. कुन्दकुन्द का समय वे विक्रम की तीसरी शताब्दि तक ले जाते हैं। पर हमारी समझ मे यह कहना ही भ्रान्ति पूर्ण है कि कुन्दकुन्द दिगम्बर श्वेताम्बर मतभेद के वाद हुए है। दिगम्बरो शास्त्रो मे विक्रम की मृत्यु के १३६ वर्ष वाद श्वेताम्बर सघ की उत्पत्ति वताई है और श्वेतावर शास्त्रो मे उसके तीन वर्ष वाद अर्थात् वि० स० १३९ मे दिगम्बर मत की उत्पत्ति लिखी है। किन्तु आचार्य कुदकुद के सामने ये दोनो ही नही थे। जैन सम्प्रदाय का प्राचीन नाम निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय था। बौद्ध शास्त्रो मे जीवो के लिए निग्गठ शब्दो का ही प्रयोग किया है। स्वय भगवान महावीर भी निग्गठनाथ पुत्र कहलाते थे। कुदकुद ने वस्त्रधारी मुनियो की आलोचना अवश्य की है पर भाव विहीन नग्न मुनियो को भी नही छोडा है। लेकिन इन दोनो के लिये श्वेताम्बर सेवड और दिगम्बर शब्दो का प्रयोग कही ही नही किया। इसके विपरीत निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग प्रचुरता मे मिलता है। वोध प्राभृत मे जहा प्रवज्या (दीक्षा) का वर्णन किया है वहाँ कुदकुद लिखते है .

णिग्गंथा णिस्संगा णिम्माणासा अरायणिद्दोसा।
णिम्ममणिरहंकारा पव्वज्जा एरिसा भणिआ ॥४९॥

यहां प्रव्रज्या के लिये जो आवश्यक आचरण बताया है उसमे सबसे पहले निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग किया है दिगम्बर शब्द का नहीं।

इसी प्राभृत की गाथा नं० १४ मे दर्शन अधिकार का वर्णन करते हुए 'निग्गंथं [illegible]' शब्द का प्रयोग किया है।

गाथा नं० ५१ मे 'निग्गंथमोहमुक्का' प्रव्रज्या का विशेषण दिया है।

इसी प्रकार मोक्ष पाहुड मे मोक्षमार्ग का कौन अधिकारी है उसके लिए ८०

दूसरे इन्द्रनन्दि का उक्त कथन को विबुध श्रीधर का श्रुतावतार चुनौती दे रहा है। वह परिकर्म को कुन्दकुन्द कृत न मानकर किन्हीं कुन्दकीर्ति कृत कह रहा है जो इतने प्रसिद्ध आचार्य नहीं हैं और जिनके कथन को वीरसेन स्वामी सूत्र विरुद्ध बतला सकते हैं।

अतः इन्द्रनन्दि के उक्त कथन के समर्थन में साक्षी मिलने की अपेक्षा उनके विरोध में ही साक्षी मिल रही है।

इसलिए यह निर्णय करने में कोई कठिनाई नहीं होती कि परिकर्म ग्रन्थ कुन्दकुन्दाचार्य की रचना नहीं है किन्तु वह किन्हीं कुन्दकीर्ति की हो सकती है जिसे भूल से इन्द्रनन्दि ने कुन्दकुन्दाचार्य कृत समझ लिया है और उनके साथ जोड़कर पढ़ा दिया है।

जब परिकर्म कुन्दकुन्द की रचना सिद्ध नहीं होती तब यह बात एकदम विचार कोटि से बाहर हो जाती है कि कुन्दकुन्द महावीर निर्वाण के ६८३ वर्ष बाद तक तो हुए ही नहीं हैं। अतः हम देखते हैं कि कुन्दकुन्द कब हुए हैं। आगे हम नन्दिसंघ की पट्टावली के उस कथन को वन्द्य मानकर चलेंगे जिसमें कुन्दकुन्द को महावीर निर्वाण के ५१९ वें वर्ष में अर्थात् वि० सं० ४९ में पट्ट पर बैठने की बात कही है। इन्द्रनन्दि ने महावीर निर्वाण के बाद ६८३ वर्षों में जिन आचार्यों की परम्परा दी है वे सब आचार्य पट्टावली में ५६५ वर्ष के अन्दर ही आ जाते हैं। इसका अर्थ है कि पट्टावली के अनुसार विक्रम संवत् ९५ तक हो विक्रम सं० २१० तक के आचार्य आ जाते हैं। अन्तिम आचार्य इनमें लोहाचार्य हैं। लोहाचार्य के बाद फिर अर्हद्बलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि की परम्परा चलती है। इन सबका काल ११८ वर्ष है। ५६५ और ११८ वर्ष मिलकर ६८३ वर्ष होते हैं अर्थात् महावीर निर्वाण के बाद ६८३ वें वर्ष में और विक्रम संवत् २१३ में भूतबलि हुए हैं।

अब प्रश्न कुन्दकुन्द का आता है। चूँकि कुन्दकुन्द ने षट्खण्डागम पर कोई टीका नहीं लिखी। यह पहले सिद्ध किया जा चुका है अतः ६८३ वर्ष बाद उनके होने का प्रश्न ही नहीं उठता। तब हमें कोई दूसरा मार्ग खोजना चाहिए कि जिससे कुन्दकुन्द का समय जानने में कुछ सहायता मिले।

श्रवणबेलगोल के १०५ सं० के शिलालेख में निम्न दो श्लोक मिलते हैं

यः पुष्पदन्तेन च भूतबल्याख्येनापि शिष्यद्वितयेन रेजे

फलप्रदानाय जगज्जनानां प्राप्तोऽङ्कुराभ्यामिव कल्पभूजः

अर्हद्बलिस्सङ्घचतुर्विधं स श्रीकोण्डकुन्दान्वयमूलसङ्घम्

कालस्वभावादिह जायमान-द्वेषेतराल्पीकरणाय चक्रे

आशय यह है कि पुष्पदन्त और भूतबलि इन दो शिष्यों से अर्हद्बलि आचार्य इस प्रकार शोभित हुए मानो संसार के प्राणियों को फल प्रदान करने के लिए दो अंकुरों सहित कल्पवृक्ष हो हो। उन अर्हद्बलि आचार्य ने ... कुन्दकुन्द की परम्परा वाले

तथा पार्श्वस्थ, अवसन्नसृयाचारी आदि भ्रष्ट साधु थे[1] कुदकुद के विरोध के लक्ष्य वे ही थे न कि श्वेताम्बर। ये लोग अध कर्म करके आहार उपार्जित करते थे, कोई मत्र तत्र ज्योतिष के आधार पर अपना निर्वाह करते थे[2], नाचने गाने का काम भी करते थे।[3] अभिप्राय यह है कि ये भ्रष्ट साधु अपने को श्रमण कहते थे किन्तु वे निर्ग्रन्थ न रहकर वस्त्राछन्न रहते थे और कोई निर्ग्रन्थ भी रहते थे तो नाना प्रकार के हीन आचरण करते थे। यह मार्ग भ्रष्टता वारह वर्ष का जव दुर्भिक्ष पडा था तभी से प्रारम्भ हो गई थी लेकिन कुदकुद के समय तक इसने उग्र रूप धारण कर लिया था। और निर्ग्रन्थ मार्ग की रक्षा के लिए उन्हे अपनी लेखनी चलानी पडी थी। इन सब भ्रष्ट साधु समुदाय से कुन्दकुन्दान्वय को पृथक् करने के लिये ही उन्हे मूल सघ का अग्रणी माना गया होगा। श्वेताम्वर सघ की प्रतिस्पर्द्धा मे इन्होने अपने सघ का मूल सघ नाम दिया होगा ऐसा नही है। श्वेताम्वर की प्रतिस्पर्द्धा दिगम्वर शव्द से हो सकती है। अत दिगम्वर श्वेतावर नामो की उपज कुदकुद के वाद की है पहले की नही है।

कुन्दकुन्द के समय सम्बन्धी इतिहासज्ञो के मत

कुदकुद के समय का निर्णय करने वाले कुछ जैन विद्वान निम्न प्रकार हैं· श्री नाथूराम प्रेमी, डा० के० वी० पाठक, डा० ए० चक्रवर्ती, प० जुगलकिशोर मुख्तयार,, डा० ए० एन० उपाध्ये, प० कैलाशचद्र शास्त्री, यहाँ हम इन सवके मत कुदकुद के समय के वारे मे दे देना चाहते हैं और वाद मे निष्कर्ष रूप मे अपना भी मत देंगे।

१ प० नाथूराम जी प्रेमी ने आज मे ५० वर्ष पहले इन्द्रनदि के श्रुतावतार के आधार पर वीर निर्वाण मे ६८३ तक (वि० स २१३) तो कुदकुद का अस्तित्व नही माना। उसके वाद धरसेन भूतवलि, पुष्पदत आदि आचार्यों के कुछ समय की कल्पना कर विक्रम की तीसरी शताब्दि का अन्त कुन्दकुन्द का समय निर्धारित किया है।

---

१. दसण णाण चरित्ते महिलावग्गम्मि देहिवीसठो।
पासत्थ वि हु णियट्ठो भावविणट्ठो ण सो सवणो ॥ २० ॥ लि० प्रा० सा०

२ जोइं मंतं तंतं परिचरियं पक्खवाय पियवयणं
पडुच्च पंचमकाले भरहे दाणं ण कि पि मोक्खस्स । २८ । र० सा०
जो जोडदि विव्वाहं किसिकम्म वणिज्ज जीवघादं च
वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरूवेण ॥ लिग प्रा० ९ ॥

३ णच्चदि गायदि तावं वायं वाएदि लिंगरूवेण
सो पाव मोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो सवणो ॥ ५ ॥ लि० प्रा०

अ० की गाथा में 'णिग्गयमोहमुक्का' विशेषण का प्रयोग किया है। और भी ऐसी बहुत सी गाथाएँ हैं जिसमें निर्ग्रन्थ शब्द का ही प्रयोग आता है।

प्रवचन सार अ० ३ गाथा ६९ में लौकिक साधु का लक्षण इस प्रकार लिखा है—

णिग्गंथो पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहि कम्मेहि

सो लोगिगो त्ति भणिदो संजम तव संजुदो चावि ॥६९॥ अ० ३

अर्थ जो निर्ग्रन्थ साधु होकर ऐहिक कर्म करता है वह संयम तप से संयुक्त होकर भी लौकिक कहलाता है।

यहाँ भी साधु के लिये निर्ग्रन्थ शब्द का ही प्रयोग हुआ है दिगम्बर शब्द का नहीं।

इस प्रकार कुन्दकुन्द के साहित्य में सर्वत्र वस्त्र विहीन साधु के लिए निर्ग्रन्थ शब्द ही मिलता है। दिगम्बर शब्द नहीं। और श्वेताम्बर शब्द के मिलने की तो बात ही क्या है कोई उसका पर्यायवाची शब्द भी नहीं मिलता अतः हमारे लिए यह कहना बहुत सरल है कि कुन्दकुन्द के समय में दिगम्बर श्वेताम्बर नाम से कोई संघ भेद नहीं हुआ था यह कुंदकुंद के बाद हुआ है। यदि कुन्दकुन्द के समय में ऐसा कोई संघ भेद हुआ होता तो कुंदकुंद दिगम्बर या श्वेताम्बर शब्द का अवश्य कहीं प्रयोग करते। पर उनकी रचना में कहीं भी उसका उल्लेख नहीं मिलता। यह बात दूसरी है कि उन्होंने सवस्त्र मुनि का निषेध किया है स्त्री को सग्रन्थ दीक्षा का निषेध किया है। पर उसका मतलब इतना ही है कि कुछ साधु निर्ग्रन्थ मार्ग से शिथिल हो गए थे और वस्त्र धारण करने लगे थे उनका निषेध करना ही उनका उद्देश्य था न कि किसी श्वेत वस्त्र पहनने वाले श्वेताम्बर संघ के विरोध में उनकी आवाज थी। अतः यह निश्चित है कि कुंदकुंद दिगम्बर श्वेताम्बर संघ से पहले हुए हैं बाद में नहीं।

वास्तव में कुंदकुंद को जिनके विरोध में बोलना पड़ा था वह श्वेताम्बर संघ नहीं थे से मार्ग भ्रष्ट साधुओं का बिखरा हुआ समुदाय था जो किन्हीं खास सिद्धान्तों पर निर्भर नहीं था किन्तु व्यक्तिगत रूप में सब अपनी मनमानी करने पर तुले हुए थे। यह सम्भव है कि इन मनमानी करने वालों में से कुछ साधु संगठित होकर एक श्वेताम्बर संघ बनाने में सफल हुए होंगे पर कुन्दकुन्द के समय में इस प्रकार नाम वाले कोई संघ नहीं थे।

ऊपर जिन मन मानी करने वाले साधुओं की हमने चर्चा की है वे कन्दर्पी आदि भावनाओं से युक्त मुनि थे।[1]

---

१ कंदप्पाइय वट्टइ करमाणो भोयणेसु रसगिद्धिं।
माई लिंगविवाई तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥१२॥ लिंगपाहुड

पत्र दिया था उस पर "सिद्धाण" लिखा हुआ है। इस दान पत्र की भाषा भी प्राकृत है और कुदकुद ने भी प्राकृत मे ही ग्रन्थो की रचना की है। अत: किन्ही शिवकुमार का कुदकुद ने सम्वोधन किया है तो वे यही शिवस्कन्द वर्मा पल्लव नरेश है। और इस तरह कुन्दकुन्द को विक्रम की प्रथम शताब्दि का आचार्य वताया है।

४ श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार ने नदि सघ की पट्टावली को असदिग्ध नही माना इसी प्रकार विद्वज्जन वोधक मे उल्लिखित वीर निर्वाण सवत ७७० मे कुदकुद के होने की वात को भी उपयुक्त स्वीकार नही किया।

केवल इन्द्रनन्दि के कथन को आधार वनाकर वे आगे चले है और ६८३ वर्ष तक अगज्ञानियो की परम्परा के वाद अन्य आरातीय आचार्यो के वर्षो की कल्पना (विना किसी प्रमाण के) कर कुन्दकुन्द को वीर निर्वाण के वाद ७६३ वर्ष तक ले गए हैं।

नन्दिसघ की पट्टावली के आधार पर भी उनका कहना है कि भूतवलि पुष्पदत को वीर निर्वाण के वाद ६८३ वर्ष तक स्वीकार कर लिया जाय और उसके वाद ही कुन्दकुन्द को स्वीकार कर लिया तो कुन्दकुन्द वि० स० २१३ मे हुए सिद्ध होते हैं।

५ डा० ए० एन० उपाध्याय ने कुन्दकुन्द का समय निर्धारण करने के लिए सव की सार भूत पाँच वातो पर विचार किया है। वे इस प्रकार हैं।

१ कुन्दकुन्द का श्वेताम्बर दिगम्बर मतभेद के वाद होना।
२ कुन्दकुन्द का भद्रवाहु का शिष्य होना।
३. कुन्दकुन्द का परिकर्म नाम का ग्रन्थ लिखना।
४ कुदकुंद का महाराजा शिवकुमार के समकालिक होना।
५ कुन्दकुन्द का कुरल काव्य का रचयिता होना।

इनमे मे पहली वात के सम्वन्ध मे उनका कहना है कि कुन्दकुन्द सघभेद के पश्चात् तो हुए है, लेकिन इससे कुन्दकुन्द का समय निर्धारण करने मे विशेष सहायता नही मिलती।

दूसरी वात के सम्वन्ध मे वे भद्रवाहु का परम्परागत शिष्य कुन्दकुन्द को मानते है साक्षात् नही जैसा कि सिद्धर्षि ने हरिभद्र को अपना परम्परागत गुरु माना है।

तीसरी वात के विषय मे उनका कहना है कि इन्द्रानदि के अतिरिक्त कही भी यह नहीं मिलता कि कुन्दकुन्द परिकर्म के कर्ता है। विवुध श्रीधर ने इसमे असहमति प्रकट की है। कुन्दकुन्द व्याख्याकार की अपेक्षा सिद्धान्तकार ही रहे हैं।

चौथे कुन्दकुन्द और शिवकुमार की समकालिकता के वारे मे वे डा० पाठक की वात को अमान्य करते हैं और शिवस्कद वर्मा की समकालिकता को सभावित दृष्टिकोण से देखते हैं। उनका कहना है कि एक ही नाम के अनेक पल्लव नरेशो का होना विभिन्न सन्दर्भो मे पाया जाता है उदाहरण के लिए शिवस्कध वर्मा का पल्लववश मे पाया

डा० ए० चक्रवर्ती ने कुदकुद द्वारा शिवकुमार के सवोधन की वात सच मानकर शिवकुमार और पल्लव नरेश शिवस्कद वर्मा को एक ही व्यक्ति माना है। पर जयसेन ने जिन महाराजा शिवकुमार के सम्वोधन के लिए पचास्तिकाय की रचना का उल्लेख किया है उन्ही जयसेन ने प्रवचन सार की टीका मे शिवकुमार को इस प्रकार निर्दिष्ट किया है मानो वे प्रवचनसार के कर्त्ता हो। इस तरह शिवकुमार के सम्वन्ध मे एक ही व्यक्ति द्वारा दो प्रकार का कथन करने से शिवकुमार की स्थिति डावाडोल हो जाती है।

दूसरे ए० एन० उपाध्ये ने स्कन्धवर्मा, शिवस्कन्ध वर्मा आदि अनेक पल्लव नरेशो को वताकर तथा उनके समय की स्थिति को अनिश्चित वताकर चक्रवर्ती के मत को विशेष आदर नही दिया है।

तीसरे वि० की १२वी शताब्दि के विद्वान् जयसेन के पहले किसी ने कुन्दकुन्द द्वारा शिवकुमार के सम्वोधन की वात नही लिखी है अत शिवकुमार को आधार वनाकर कुदकुद के समय की वात सोचना तथ्यो के अनुकूल नही जान पडती है। फिर भी हम चक्रवर्ती के इस मत मे सहमत है कि कुदकुद विक्रम की पहली शताब्दि मे हुए है।

प० जुगलकिशोर जी का कुदकुद के समय के वारे मे कोई निर्णायक मत नही है फिर भी वे इसमे एक मत है कि कुन्दकुन्द वीर निर्वाण के वाद ६८३ वर्ष तक नही हुए। लेकिन जव पदावली के अनुसार भूतवलि पुष्पदत ६८३ वर्ष के अन्दर ही आ जाते है और विवुध श्रीधर के अनुसार कुदकुद ने कोई परिक्रम नाम का ग्रन्थ नही रचा तो कोई कारण नही कि कुदकुद को वीर निर्वाण के ६८३ वर्ष वाद ही माना जाय पहले नही।

डा० ए० एन० उपाध्ये ने जिन सार भूत पाच वातो पर विचार कर कुन्द के समय का निर्णय किया है उनमे पहली वात के सम्वन्ध मे हमारा मतभेद है। अर्थात् हमारा दृढ विश्वास है कि कुदकुद सघभेद से पहले हुए है, वाद मे नही जिसकी चर्चा हम पूर्व मे कर आए है, कुदकुद का परम्परागत भद्रवाहु का शिष्य होना ठीक है। कुदकुद परिकर्म के कर्त्ता नही है यह भी सत्य है। उनकी चौथी वात मे भी हम सहमत है।

जहाँ तक कुरल के कर्त्ता का प्रश्न है वह कुन्दकुन्द की रचना नही है ऐसी सम्भावना हम भी करते है भले ही वह किसी अन्य जैनाचार्य की हो। लेकिन यह सम्भावना इस आधार पर नही है कि कुरल के कर्ता एलाचार्य ही है और कुन्दकुन्द तथा एलाचार्य एक व्यक्ति नही है।

श्री उपाध्ये के इस निष्कर्ष मे हम सहमत है कि कुन्दकुन्द ईसा की प्रथम शताब्दि के प्रारम्भ मे हुए है लेकिन उसमे इतना और जोडना चाहते है कि ईसा पूर्व प्रथम शताब्दि का उत्तरार्द्ध भी उसमे सम्मिलित करना चाहिए।

तित्थयर भक्ति

इसमे २४ तीर्थंकारो की स्तुति सुन्दर प्राकृत पद्यो मे की गई है ये पद्य गाथा रूप ही है। प्रत्येक तीर्थंकर के नाम का पृथक्-पृथक् उच्चारण किया गया है दैवसिक प्रतिक्रमण मे सम्पूर्ण अतीचारो की विशुद्धि के लिए चौबीस तीर्थंकर भक्ति कार्योत्सर्ग करने की प्रारम्भ में प्रतिज्ञा की गई है। गाथाओ की सम्पूर्ण सख्या आठ है।

सिद्ध भक्ति

इसमे १७ गाथाएँ हैं। पहले सामान्य सिद्धो की वन्दना की है इसके वाद तीर्यंकर सिद्ध और इतर सिद्धो की वन्दना की गई है। इतर सिद्धो मे जल, स्थल, आकाश से सिद्ध होने वाले, अन्तकृत सद्ध, उत्तम मध्यम जघन्य अवगाहना वाले सिद्ध, ऊर्ध्व, मध्य पाताल से होने वाले सिद्ध, छ कालो मे होने वाले सिद्ध, उपसर्ग जयी सिद्ध अनुपसर्गी सिद्ध, द्वीप और समुद्र मे होने वाले सिद्ध इन सवको नमस्कार किया गया है। आगे इन सिद्धो के और भी भेद किये गये हैं। इसके वाद सिद्धो के सुखातिशय का वर्णन है उनकी आकार स्थिति का वर्णन है। सिद्धि भक्ति के फल का वर्णन है। यो सिद्धो की वन्दना करके इच्छामि भते, पाठ दिया है। इस भक्ति से सिद्धो के स्वरूप पर अच्छा प्रकाश पडता है।

सुदभक्ति

संस्कृत मे इसका नाम श्रुत भक्ति है। जिसे शास्त्र भक्ति भी कहा जाता है। सम्पूर्ण गाथाओ की सख्या ११ है। प्रारम्भ मे सिद्धो को नमस्कार पूर्वक आगे, १२ प्रकार के श्रुत को नमस्कार किया गया है। इसके वाद ग्यारह अगो के नाम तथा बारहवे अग के पृथक्-पृथक् भेद प्रभेदो का वर्णन है, एव पूर्वगत भेद के पदो की सख्या है अन्त मे श्रुतधारियो की स्तुति करते हुए जिनेन्द्र से श्रुत लाभ की प्रार्थना की गई है। तथा इच्छामि भते पाठ है।

चारित्र भक्ति

यह सम्यक्चारित्र की भक्ति है। गाथाओ की सख्या १० है। इसमे वर्द्धमान भगवान को नमस्कार कर पाँच प्रकार के चारित्र का कथन है। वाद मे मूलगुण और उत्तरगुणो को गिनाते हुए राग, द्वेष, मोह और अनादर से उनमे की गई हानि की आलोचना की गई है इन सिद्धो को नमस्कार करते हुए उस हानि का प्रत्याख्यान किया गया है। अन्त मे इच्छामि भत्ते कहकर सम्बन्धित कार्योत्सर्ग का विधान है।

[illegible] से अभिप्राय अनगार या साधु परमेष्ठि से है इस भक्ति मे अनगार

आचार्य कुन्दकुन्द ने इसको निवार्ण काण्ड" नाम भी दिया है।[1] निर्वाण प्राप्त मुनियो मे अर्गल देव, जिवण कुंड नही है। इसमे निर्वाण क्षेत्रो के साथ अतिशय क्षेत्रो की भी वदना की गई है। अत मे इच्छामि भते कहकर निर्वाण भक्ति सम्बन्धी कार्योत्सर्ग पाठ पहले की तरह ही दिया गया है। सम्पूर्ण गाथाओ की सख्या २७ है।

पंच परमेष्ठि भक्ति

इसमे ७ गाथाए हैं। पहली गाथा से लेकर पाचवी गाथा तक क्रमश अरहत सिध्द, आचार्य उपाध्याय और सर्व साधु को उनके गुण वर्णनपूर्वक नमस्कार किया गया है। छटवी गाथा मे इस भक्ति का फल लिखा है और सातवी गाथा मे सामूहिक इष्ट प्रार्थना की गई है अन्त मे पचम हागुरु भक्ति सम्बन्धी कायोत्सर्ग पाठ है।

उक्त आठ भक्तियाँ कुन्दकुन्द कृत हो यह केवल भक्तियो के टीकाकार श्रीप्रभाचन्द्र ने ही लिखा है। इसके समर्थन मे न कोई परम्परा है न कही उल्लेख है। फिर भी इनकी रचना इस वात की साक्षी है ये कुन्दकुन्द कृत ही होना चाहिए। "प्रवचनसार" मे मुनि के लिये देस कुलजाइ शुद्धा शव्द का प्रयोग किया है। आचार्य भक्ति से यहाँ भी इन्ही शव्दो की आवृत्ति की गई है। अन्य गाथाओ मे भी पद रचना भाव और शैली को देखते हुए वे कुन्दकुन्द की ही प्रतीत होती है।

यहाँ केवल आठ भक्तियो का ही वर्णन किया गया है। इनकी पूर्ण सख्या दस है। इसमे नदीश्वर भक्ति एव शाति भक्ति का उल्लेख है किन्तु परिचय देने जैसी कोई आवश्यकता न समझकर उनका उल्लेख नही किया गया है। मुनियो को अपनी दैनिक चर्याओ मे इनकी वडी आवश्यकता होती है। और एक व्यवस्था दाता की हैसियत मे कुन्दकुन्द द्वारा इनका निर्माण आवश्यक प्रतीत होता था। इस दृष्टि से यह भी सम्भव प्रतीत होता है कि मूलाचार ग्रन्थ जो वट्टकेर के नाम से प्रचलित है वह कुन्दकुन्द की ही कृति हो—अनेक विद्वानो ने मूलाचार को कुन्दकुन्द की ही कृति वतलाया है। जब मुनियो मे आचार विभिन्नता आ गई तब मूल सघ के अग्रणी आचार्य कुन्दकुन्द को यह आवश्यक था कि वे मुनियो के मूल आचार पर कोई ग्रन्थ लिखते—मूलाचार इसी आवश्यकता का परिणाम हो सकता है। अत. इनके कुन्दकुन्द कृत होने मे कोई सन्देह नही है।

---

१. [illegible] णियाण णिव्वुइकरणि भाव सुद्धीए
[illegible] पत्ता मो [illegible] णिव्वाण

णिव्वाण भक्ति

६ जिनमुद्रा अधिकार मे बताया है कि जहाँ दृढ सयममुद्रा, इन्द्रियमुद्रा और कपायमुद्रा होती है वहाँ जिनमुद्रा होती है।

७ ज्ञानाधिकार मे ज्ञान का महात्म्य बताते हुए लिखा है कि मतिज्ञान जिसका धनुप है, श्रुत जिसकी डोरी है, रत्नत्रय जिसके बाण है और परमार्थ जिसका लक्ष्य है वह मोक्षमार्ग से स्खलित नही होता।

८ देवाधिकार मे धर्म अर्थ काम को देने वाले को देव बताया है।

९ तीर्थाधिकार मे सुधर्म, सम्यक्त्व, सयम, तप ज्ञान को तीर्थ बतलाया है।

१० अर्हंत अधिकार मे नाम अर्हंत स्थापना अर्हंत और भाव अर्हंत के स्वरूप का वर्णन है।

११ प्रव्रज्या अधिकार मे दीक्षा कैसी होनी चाहिए इस पर विस्तृत प्रकाश डाला है। मूलसंघ मे जो दीक्षा का रूप था उसी का इसमे मूर्तिमान वर्णन है।

इस प्रकार ५९ गाथाओ मे उक्त ११ अधिकारो का वर्णन है। ६० वी गाथा प्रतिज्ञा निर्वाह की है। और शेप दो गाथाए प्रशस्ति रूप है जो क्षेपक मालूम पडती है। इस प्रकार समुदाय गाथाएँ ६२ है। यह पाहुड पिछले सभी पाहुडो से बडा है।

भाव पाहुड

इस प्राभृत मे १६३ गाथाएँ है जिनमे भावो की प्रधानता से वर्णन है। मगल के बाद ही इसकी पहली गाथा मे बताया है कि भावलिंग मुख्य है द्रव्यलिंग मुख्य नही है। आगे इसी आधार पर लिखा है कि भावो से रहित पुरुप की सिद्धि नही होती। सम्यक्त्वभाव के बिना इस जीव ने कुगतियो के दुःख उठाये हैं। कांदर्पी कैल्विषी आदि भावनाओ को भाकर यह जीव द्रव्यलिंगी बना रहा पार्श्वस्थादि भावनाए भाकर इसने अनेक दुःख उठाये। भावो से, (सम्यक्त्व से) रहित होकर ही इसने जन्म मरण के दुःख उठाये है। सम्यक्त्व से हीन द्रव्य श्रमण के लिये ऐसा कोई स्थान नही है जहा वह जीया मरा न हो। एक अगुली मे ९६ रोग होते है तो सम्पूर्ण शरीर मे कितने रोग होते होगे उन सबको इस जीवने सहा है। भावो से मुक्त ही मुक्त कहा जा सकता है बन्धु बान्धवो से मुक्त मुक्त नही है।

बाहुबलि कठोर तपस्वी होकर भी मानकपाय रहने से कितने ही काल तक कलुषित रहे। मधुपिंगल मुनि देह और आहारादि सबधी व्यापार से मुक्त होकर भी निदान करने के कारण श्रमण भाव को प्राप्त नही हुये। इसी प्रकार वशिष्ट मुनि बाहुमुनि, द्वीपायन मुनि इन सभी ने द्रव्य श्रमण बन कर अनन्त ससार को बढाया। शिवकुमार भाव श्रमण होकर युवती पत्नियो से वेष्टित होकर भी परीत ससारी रहा। भव्यसेन ग्यारह अग [illegible] भी भाव श्रमण नही बन सका किन्तु शिवभूति [illegible]। [illegible] का सबध भावो से है द्रव्य से नही। शरीर के ममत्व रहित, मान कपाय हीन, आत्मा मे लीन साधु भावलिंगी है।

लिखा है कि चारित्र हीन ज्ञान कार्यकारी नहीं है तथा सम्यक्त्वहीन तप कार्यकारी नहीं है। ज्ञान और तप से युक्त होकर ही निर्वाण को प्राप्त कर सकता है। कुन्द-कुन्द का सिद्धान्त है दुःख से की गई ज्ञान की आराधना ही ज्ञान का स्थायित्व प्रदान करती है। आगे चलकर उन लोगों की आलोचना की गई है जो इस काल में ध्यान की संभावना नहीं मानते। उन्हें अभव्य और संसार सुखरक्त माना गया है तथा लिखा है कि इस भरत क्षेत्र दुःषम काल में धर्म ध्यान होता है, जो यह नहीं मानता वह अज्ञानी है। जिनलिंग धारण कर जो पाप मोहित है, पंच चेल में आसक्त है, ग्रन्थ रखते हैं, अधः कर्म करते हैं उन्हें मोक्ष मार्ग से रहित बताया है इससे विपरीत साधु को निर्वाण का अधिकारी बतलाया है। इस प्रकार ८५ गाथा तक श्रमण को उपदेश कर आगे श्रावकों को उपदेश दिया है कि जो सम्यक्त्व धारण करे उसी के अष्ट कर्मों का विनाश होता है। श्रावक के लिये सम्यक्त्व का लक्षण बतलाया है कि हिंसा रहित धर्म में, १८ दोष रहित देव में, तथा निर्ग्रन्थ गुरु में श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दृष्टि श्रावक जिनदेव के उपदिष्ट मार्ग का आचरण करता है, विपरीत करने वाला मिथ्यादृष्टि है। अधिक क्या ? सम्यक्त्व गुण है, मिथ्यात्व दोष है जिसमें रुचि हो वह धारण करो। इस प्रकार श्रावक का वर्णन कर पुनः साधु संबंधी कुछ विवरण दिया है और अन्त में आत्मा ही मुझे शरण हो इस प्रकार मंगल कामना की गई है।

यहाँ ६ प्राभृतों की संख्या पूरी हो जाती है। श्रुतसागर ने जो वस्तुतः श्रुतसागर है इन्हीं ६ प्राभृतों पर टीका लिखी है जो माणिकचन्द्र ग्रन्थ माला में प्रकाशित है।

लोलुप यदि मोक्ष प्राप्त कर ले तो दशपूर्व का ज्ञानी रुद्र नरक क्यो गया। विषय विरक्त प्राणी शीघ्र ही अर्हत् पद को धारण कर लेता है। सम्यक्त्व ज्ञान, दर्शन, तप वीर्य, इन पचाचारो को पालन कर वायु प्रेरित अग्नि की तरह यह शीघ्र पुरातन कर्मो को नष्ट कर देता है। जिनवाणी से सार ग्रहण करने वाले विषय विरक्त तपोधन धीर शील रूपी जल मे स्नान करके निर्वाण सुख को प्राप्त करते है। अर्हंत मे यदि प्रशस्त भक्ति है सम्यक्त्व मे विशुद्धि है, विषय विरक्ति पूर्ण शील है तो फिर ज्ञान और कैसा होता है।

इस प्रकार शील को लेकर सक्षेप मे यह सुन्दर उपदेश है। मात्र ज्ञान की महत्ता गाने वालो को यह एक उपालभ दिया है कि भक्ति, सम्यक्त्व और विषय विरागता, (शील) इनमे अतिरिक्त और ज्ञान नाम की कोई दूसरी वस्तु नही है। इसमे केवल ४० गाथाएँ है। इसकी कोई प्राचीन अर्वाचीन सस्कृत टीका नही है। केवल प० सदासुखजी की हिन्दी वचनिका है जो लगभग १०० वर्ष पुरानी है 'अष्ट-पाहुड' मे यह ग्रन्थ हिन्दी टीका सहित छपा है।

प्रवचनसार:—

प्रवचनसार आचार्य कुन्दकुन्द की सुन्दर कृति है और समयसार के समान ही इसका जैन समाज मे आदर है। इसकी अनेक गाथाएँ जैनाचार्यो ने अपने ग्रन्थो मे उद्धृत की है। 'चारित्त खलु धम्मो' इसी ग्रथ की ७वी गाथा का पहला चरण है जो जैनो मे वेदान्त के 'तत्वमसि' महावाक्य की तरह प्रसिद्ध है। जैन शास्त्र भडारो मे प्रवचन-सार प्राय. सर्वत्र उपलब्ध होगा और इसकी प्रामाणिकता को असदिग्ध रूप मे स्वीकार किया जाता है।

इसमे तीन अधिकार है—१ ज्ञानाधिकार २ ज्ञेयतत्वाधिकार ३ चरित्राधिकार। ज्ञानाधिकार मे जिनपर अमृतचन्द्र आचार्य की टीका है, ९२ गाथाए है किन्तु [illegible] गाथाओ की अपेक्षा १०१ गाथाएँ है। ज्ञेय तत्वाधिकार मे १०८ गाथाएँ है किन्तु जयसेन की तात्पर्य वृत्ति के अनुसार ११३ गाथाए है, इसी प्रकार चारित्राधिकार मे [illegible] गाथाए है और तात्पर्यवृत्ति के अनुसार ९७ गाथाएँ है। इस प्रकार कुल [illegible] और [illegible] गाथाएँ है।

[illegible] प्रारम्भ मे [illegible] तीर्थंकर तथा पचाचार के पालक श्रमणो [illegible] को नमस्कार किया गया है और प्रतिज्ञा की है कि [illegible] विशुद्ध [illegible], ज्ञान प्रधान आश्रम को प्राप्त कर साम्य को प्राप्त [illegible] की प्राप्ति [illegible]। निर्वाण की प्राप्ति के लिये दर्शन, ज्ञान-[illegible] बताया [illegible], इसके बाद चारित्र का स्वरूप बताते [illegible] है। और शुद्धोपयोग की प्राप्ति के लिये प्रेरणा की [illegible] की प्राप्ति होने पर उसका विनाश नहीं होता

लिग है। इन दोनो लिगो को ग्रहण कर गुरु को नमस्कार कर उनसे व्रत और साधु की आचार विधि को सुनना चाहिये यही श्रमण का स्वरूप है।

इसके बाद २८ मूलगुणो को बताते हुये उनमे प्रमादी श्रमण को छेदोपस्थापक बतलाया है। लिग ग्रहण करने मे दीक्षा दाता को गुरू बतलाया है और सविकल्प छेदोपस्थापना सयम देने वाले तथा छिन्न सयम को प्रतिसधान कराने वाले गुरु को निर्यापक बताया है। इसके बाद श्रमण को किस प्रकार अपने श्रामण्य का निर्वाह करना चाहिये इसका विस्तृत उपदेश है तथा प्रसग वश उत्सर्ग अपवाद विधि का वर्णन है। तथा आत्मा को न जानने वाले श्रमण को श्रमणाभास कहा है। अन्त मे परम वीतराग भाव प्राप्त साधु को ही श्रामण्य, दर्शन, ज्ञान और निर्वाण होता है और वही सिद्ध है इस प्रकार कहकर उन्हे नमस्कार किया है।

प्रवचनसार अत्यन्त गूढ, गभीर और महाग्रन्थ है। ज्ञान, ज्ञेय और श्रामण्य का इतना सुन्दर विवेचन हमे जैन वाङ्मय मे नही मिलता। इसकी प्रत्येक गाथा अपने आपमे महा आगम और विस्तृत ग्रथ है। ये गाथाएँ नि सन्देह गाथा सूत्र है जो न मालूम कितने आगम ग्रथो को अपने अन्दर छिपाये हुए हैं। प्रत्येक पद और वाक्य पर कुन्दकुन्द के सिद्धांत ज्ञान और जैनशासन के दीर्घ अनुभव की छाप है। ग्रंथ का जैसा नाम है उसका पूर्ण निर्वाह किया गया है। सारा ग्रथ शृखलाबद्ध है और तार मे पिरोये हुए मोतियो की तरह यह प्रवचनो का सार ही नही है किन्तु हार भी बन गया है। कुन्दकुन्द की यह अनुपम कृति जैन वाङ्मय का अमूल्य रत्न है।

इस पर आचार्य अमृतचन्द्र की तत्व दीपिका और जयसेन की तात्पर्यवृति दोनो ही टीकाये मनोज्ञ हैं। तथा कुन्दकुन्द के भावो का दिग्दर्शन कराने मे समर्थ हुई है।

पचास्तिकाय

समय ही द्रव्य स्वभाव के कारण उसमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य होते रहते हैं। शुद्धात्मा के शारीरिक सुख दुःख नहीं होते और न उसके ज्ञान से कोई परोक्ष रहता है। परोक्ष इसलिये नहीं रहता कि ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है और ज्ञेय लोकालोक है अतः ज्ञान भी लोकालोक प्रमाण है। चूंकि आत्मा ज्ञान प्रमाण है अतः ज्ञान की तरह आत्मा भी [illegible] नहीं है। इस प्रकरण में कुन्दकुन्द ने वेदान्त मान्य आत्मा के सर्वगतत्व का किस प्रकार समन्वय किया है यह पठनीय है। परमब्रह्म की सर्वव्यापकता के अनुसार कुन्दकुन्द ने ऋषभ जिनेन्द्र को अपने तर्कों के आधार पर सर्वगत सिद्ध किया है और जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों को ऋषभगत सिद्ध किया है[1]। इस सम्बन्ध में उनका [illegible] विवेचन बड़ा ही हृदयग्राह्य है। इसके बाद सहज सबको जानते हुए भी किस प्रकार बन्ध रहित है इसका विवेचन है। सर्वज्ञ की सिद्धि में कुन्दकुन्द कहते हैं कि जो त्रैकालिक पदार्थों को युगपत् नहीं जानता है वह अनंत पर्याय वाले एक द्रव्य को भी नहीं जानता और जो एक द्रव्य को भी नहीं जानता वह सबको नहीं जानता। इसी प्रसंग में कुन्दकुन्द ने सर्वज्ञ के पारमार्थिक सुख को बताने के लिए अच्छा तर्कपूर्ण विवेचन किया है।

ज्ञेयतत्त्वाधिकार में द्रव्य को गुण पर्याय मय बताते हुए कुन्दकुन्द ने [illegible] पर्याय में अनुरक्त जीव को परसमय बताया है। द्रव्य का लक्षण सत् कहने के पश्चात् कुन्दकुन्द स्वरूप सत् और सादृश्य सत् के भेद से सत् को दो प्रकार का बतलाते हैं तथा सत् को उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक बतलाकर द्रव्य में स्वरूप भेद तथा प्रदेश भेद का निषेध करते हैं। साथ ही सत्ता और द्रव्य में कथंचित् गुण गुणी भाव भी स्वीकार करते हैं। कुन्दकुन्द ज्ञान और कर्म फल को आत्मा ही मानते हैं। यहाँ तक द्रव्य सामान्य का वर्णन करके आगे १८ गाथाओं में जीव अजीव आदि विशेष द्रव्यों का वर्णन किया है। पुनः ज्ञान ज्ञेय विभाग द्वारा आत्मा से विभक्त व्यवहार जीव का विवेचन करते हुए लिखा है कि चार प्राणों से जीने वाला जीव है। ये प्राण पौद्गलिक हैं। इसी पुद्गल द्रव्यरूप पर संयोग के कारण इसकी नारकादि पर्याय होती है वस्तुतः यह जीव सम्पूर्ण पर द्रव्यों से रहित है।

तीसरे चारित्र अधिकार में श्रामण्य प्राप्त करने की प्रेरणा करते हुए लिखा है कि दीक्षा का इच्छुक अपने कुटुम्बीजनों से अनुमति लेकर पञ्चाचारयुक्त कुलरूप वय विशिष्ट आचार्य के पास जाकर दीक्षा ग्रहण कर निर्ग्रन्थ होते हुए [illegible] नग्नरूप धारण करना चाहिए। पुनः [illegible] पूर्ण [illegible] सम्बन्ध से रहित इस प्रकार स्वलिङ्ग धारण करना चाहिए। तथा मूर्छा आरम्भ से रहित होकर उपयोग और योगों की शुद्धि रखना पर की अपेक्षा न रखना यह श्र

---

१ सव्वगदो जिणवसहो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा।
णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिया ॥ प्रवचनसार, अ० १ गा० २६

आचार्य अमृतचन्द्र ने समय शब्द की निरुक्ति इस प्रकार की है— 'समयत. एकत्वेन युगपज्जनाति गच्छति चेति'' एक रूप से एक ही काली मे जानता है और तद्रूप परिणमन करता है उसे समय कहते है।

कुन्दकुन्द ने आत्मा को ज्ञान स्वरूप माना है जबकि अन्यत्र (जैसा कि आगे विवेचन किया जायगा) ज्ञान को अचेतन और प्रकृति का धर्म माना है। जो जिस स्वरूप होता है उसकी परिणति भी उसी रूप होना चाहिये। परिणमन से विहीन कोई द्रव्य नही है और न स्वरूप से विपरीत किसी का परिणमन होता है। लोहे का परिणमन लोह रूप ही होता है और स्वर्ण का परिणमन स्वर्णरूप होता है, लोहा स्वर्णरूप परिणमन नही करता और स्वर्ण लोहरूप परिणमन नही करता[२]। अत ज्ञान जब आत्मा या चैतन्य का धर्म है तब आत्मा का परिणमन चैतन्य रूप होना चाहिये।

उमास्वाति ने उपयोग आत्मा का लक्षण बतलाया है[३]। और साथ ही उपयोग के ज्ञान और दर्शन दो भेद किये है[४]। टीकाकार पूज्यपाद आचार्य ने उपयोग की व्याख्या करते हुए लिखा है चैतन्य के अनुरूप परिणाम को उपयोग कहते है[५]। अत यह निश्चित है किसी द्रव्य का परिणमन उसके स्वरूप के अनुरूप ही होता है। और कोई द्रव्य बिना परिणमन के होता नही। आत्मा एक द्रव्य है अत उसका परिणमन भी आत्म द्रव्य के स्वरूप के अनुरूप ही होना चाहिये। अमृतचन्द्र की दृष्टि मे आत्मा सांख्य के पुरुष की तरह परिणमन रहित कूटस्थ नित्य नही हैं, प्रत्युत उसके स्वरूप और परिणमन मे एकरूपता होना चाहिये। अपने इसी अर्थ को द्योतन करने के लिए उन्होने ऊपर समय शब्द का निरुक्त्यर्थ किया है। 'अय् गतौ' अय् धातु का अर्थ गमन करना और जानना दोनो है। आत्मा के निरुक्त्यर्थ से भी यही ध्वनित होता है[६]। अपनी इस निरुक्ति की विशद व्याख्या मे अमृतचन्द्र आचार्य लिखते है —

जो नित्य ही परिणमन स्वभाव मे स्थित होने से उत्पाद व्यय ध्रौव्य की [illegible] सत्ता का अनुभव करता है अत प्रत्येक परिणमन मे चैतन्य स्वरूप होने से [illegible] दर्शन ज्ञान ज्योति स्वरूप है, अनत धर्मों का आधार होने से धर्मी होने के कारण जो प्रकट द्रव्य है, क्रम और अक्रम रूप परिणमन करने के विचित्र

कर्म नो कर्म किंचित् भी स्पर्श न करें तथा मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ निरजन हूँ इस प्रकार चिंतन करे तो यह शीघ्र ही कर्म रहित आत्मा को प्राप्त कर लेता है।

सवर के लिए सबसे पहले आवश्यक है आश्रव के कारण मिथ्यात्वादि अध्यवसानो को रोके। इन अध्यवसानो के रुकने से आश्रव का निरोध होगा। कर्मों के अभाव से नो कर्मों का अभाव होगा और जो कर्मों के अभाव से ससार का अभाव होगा। इस प्रकार सवर-भाव आत्मा का अपना ज्ञान भाव ही है जो मुक्ति का कारण है।

आश्रव का निरोध हो जाने के बाद पूर्व निबद्ध कर्मों की निर्जरा होने लगती है यह निर्जरा द्रव्य और भाव से दो प्रकार है। ज्ञानी के इन्द्रियो द्वारा चेतन अचेतन पदार्थो का उपभोग होने पर दोनो प्रकार की निर्जरा होती रहती हैं जबकि अज्ञानी के उस उपभोग मे वध होता है। इन्द्रिय भोग यद्यपि वध के ही कारण है फिर भी ज्ञान और वैराग्य की सामर्थ्य से ज्ञानी तज्जन्य वध से वञ्चित रहता है। उदाहरण के लिए औषधियो के प्रयोग का ज्ञाता वैद्य विष खाकर भी विष के परिणाम को जैसे नहीं भोगता तथा व्याधि प्रतीकार के लिये प्रतिप्रक्ष औषध मिश्रित मद्य को अरुचि से पीने वाला व्यक्ति मद्य के प्रभाव को जैसे अनुभव नही करता। उसी प्रकार ज्ञानी पुद्गल कर्मों के फल का भोगता हुआ भी ज्ञान वैराग्य के बल से कर्मबंधन नही करता। लोक मे देखा जाता है कि सेवक कार्य करता हुआ भी उस कार्य के फल का भोक्ता नहीं होता क्योंकि वह उसका स्वामी नही है। अत लाभ हानि का जो हर्ष विषाद स्वामी को होता है वह सेवक को नही होता। वास्तव मे ज्ञानी कर्मों के फल को अपना स्वभाव नही समझता। रागादि भावो को भी वह पौद्गलिक कर्मों का परिणाम ही मानता है अपना नहीं। परमाणुमात्र भी रागादि को आत्म का स्वभाव मानने वाला तो आत्मा को ही नही जानता भले ही वह शास्त्र का पारगत हो। जिसने शुद्ध आत्मा को ही अपना परिग्रह माना है वह ज्ञानी भला पर द्रव्य को अपना कैसे मान सकता है। पर द्रव्य के विनाश को देखता हुआ भी कभी उसे अपना मानने को तैयार नही होता वह अशन पान करता है फिर भी उसका अनिच्छक भाव होने से वह अशन पानादि का परिग्रही नही है। प्राप्त भोगो को वह वियोग बुद्धि से देखता है, अनागत भोगो की वह इच्छा नही करता। इसलिए कर्म के बीच मे पड़ा हुआ ज्ञानी कर्म रज से लिप्त नही होता जैसे स्वर्ण कीचड़ मे रहकर भी कीचड़ के प्रभाव से [illegible] नही रहता जबकि लोहे की तरह अज्ञानी कर्म रज से बंध जाता
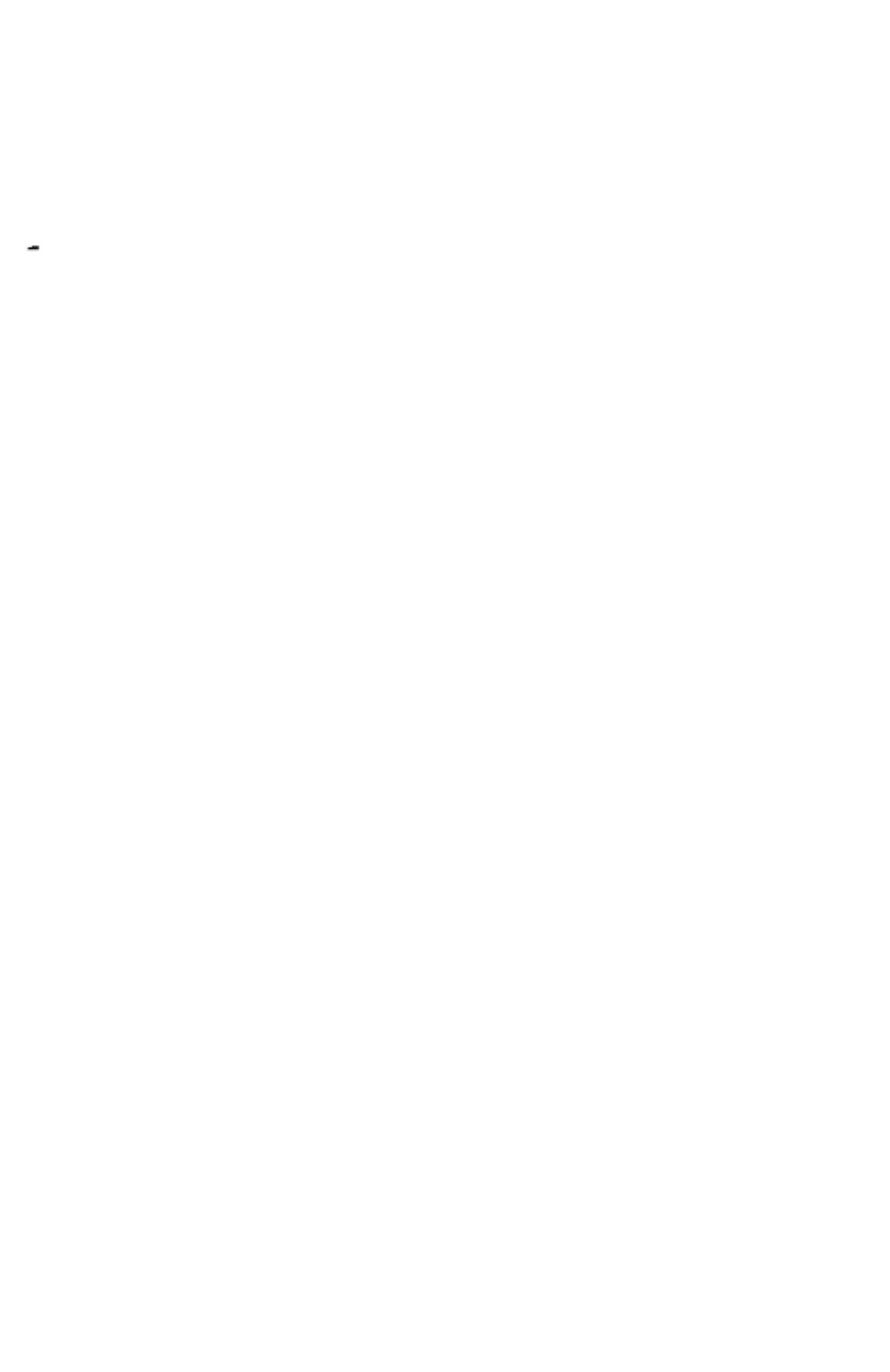
परिगहपरिधान मे अध्यवसान ही केवल वध का कारण है। वाह्य वस्तु को आधार वनाकर यह जीव जो भाव करता है उसमे भाव ही जीव के वध के कारण है उस आधारभूत वस्तु से वध नही होता। इसलिये मे अमुक को दुखी या सुखी करता हू, वधाता या छुडाता हू इस प्रकार की मूढ वुद्धि करना निरर्थक है और मिथ्या है। भला जव अध्यवसान के कारण जीव कर्म के द्वारा वधता और छूटता है तो दूसरे जीव का तो उसमे कोई व्यापार ही नही रह जाता फिर भी यह जीव अध्यवसान के द्वारा नारक, तिर्यंच, देव मनुष्य आदि पर्यायो को अपना मानता है पाप, पुण्य, जीव अजीव लोक अलोक मे भी अहकार और ममकार करता है। जो साधु इस प्रकार के अध्यवसान नही करते वे शुभ या अशुभ कर्म से वन्ध को प्राप्त नही होते। व्यवहार नय को निषिद्ध वताया ही इसलिये है कि व्यवहारनय रूप अध्यवसान रखने से कर्म-वन्ध होता है। निश्चयनय रूप शुद्ध आत्मा के चिंतन से कर्म वध नही होता। अभव्य आगम कथित व्रत, समिति, गुप्ति, शील आदि का पालन करता हुआ भी मात्र व्यवहार रूप अध्यवसान रखने के कारण अज्ञानी मिथ्या दृष्टि वना रहता है। भले ही वह ग्यारह अग का पाठी हो पर मोक्ष तत्व का श्रद्धान न करने से वह ज्ञान (आत्मा) की अवहेलना करता है अत. एकादशाग का पाठ उसका कार्यकारी नही है। धर्म के श्रद्धान से वह व्रत शीलादि का पालन करता भी हो पर धर्म को भोग का ही कारण समझता है कर्मक्षय का कारण नही मानता। इसीलिये व्यवहारनय को प्रतिषेध्य और निश्चय नय को प्रतिषेधक माना है। व्यवहारनय आचारादि अगो को ज्ञान, जीवादि तत्वो को दर्शन और षटकाय के जीवो को चरित्र मानता है जवकि निश्चयनय आत्मा को ही ज्ञान, आत्मा को ही दर्शन आत्मा को ही चारित्र, आत्मा को ही प्रत्याख्यान सवर-योग मानता है इसलिए आत्मा निश्चय नय से अपने आप मे शुद्ध है रागादि भाव रूप अध्यवसान जो व्यवहार नय के विषय है उनसे रहित हैं फिर भी आत्मा रागादि रूप परिणमन करता है उसका कारण पर द्रव्य है स्वय नही। स्फटिकमणि शुद्ध और स्वच्छ होकर भी जिस प्रकार वाह्य रक्त पीत आदि उपाधि के कारण लाल पीली दिखाई

विशुद्धता के लिए पहले आत्मा के कर्तृत्व और भोक्तृत्व पर विचार किया है। आचार्य लिखते हैं कि द्रव्य जिन गुणो के साथ परिणमन करता है वे गुण द्रव्य से भिन्न नही है स्वर्ण जैसे कटक कुण्डलादि पर्यायो से उत्पन्न होकर उनसे भिन्न नहीं है इसलिए जीव अपने परिणमन का कर्ता और अजीव अपने परिणमन का कर्ता है। दो द्रव्य एक-दूसरे के कर्ता नहीं होते। फिर भी यह जो कहा जाता है कि जीव प्रकृति का बंध करता है और प्रकृति जीव के उत्पन्न और विनाश मे कारण है यह केवल निमित्त नैमित्तक संबंध मे कहा जाता है। प्रकृति और जीव क्रमशः अचेतन और चेतन होने से एक दूसरे के कर्ता कर्म नहीं हैं। जब तक जीव प्रकृति की निमित्तता को नही छोडता तब तक वह अज्ञानी और असंयमी है और जैसे ही निमित्तता को छोड देता है वैसे ही वह मुक्त होकर ज्ञाता द्रष्टा बन जाता है। प्रकृति के स्वभाव मे स्थित होकर अज्ञानी ही कर्मो के फल का वेदन करता है, ज्ञानी तो मात्र कर्मफल को जानता है वेदन नही करता है। अभव्य प्राणी शास्त्रो का अध्ययन करके भी प्रकृति से मुक्त नहीं होता। जैसे सर्प दूध पीकर भी विष मुक्त नही होता। ज्ञानी क्योकि वैराग्य सपन्न है कर्मफल की मधुरता और कटुता को जानता है किन्तु उसका अनुभव नही करता।

जैसे नेत्र दृश्य पदार्थ को देखते है न उसके कर्ता हैं न उसके फल के भोक्ता है उसी प्रकार ज्ञान का कार्य जानना है करना या भोगना नही। लोक मे विष्णु की तरह यदि श्रमण साधु भी आत्मा को षट्काय के जीवो का कर्ता मानते हैं तो दोनो के सिद्धान्त मे कोई अन्तर नही रह जाता। फिर तो इस कर्तृत्व से दोनो को कभी मुक्ति ही नही मिलेगी। परमार्थ को समझने वाले ज्ञानी पुरुष केवल व्यवहार से पर द्रव्य को अपना कहते हैं किन्तु निश्चय मे तो वे परमाणुमात्र को भी अपना नही समझते। ग्राम, नगर या देश को मोह मे ही अपना कहा जाता है वस्तुत वे अपने नही हैं। इसलिए पर द्रव्य को अपना न जानकर भी जो उन्हें अपना मानता है वह मिथ्यादृष्टि समझना चाहिए।

की प्रामाणिकता से वचनो की प्रामाणिकता मानी जाती है वचनो की प्रामाणिकता से वक्ता की प्रामाणिकता नही मानी जा सकती । अप्रामाणिक व्यक्ति भी सुन्दर और हित रूप उपदेश दे सकता है । अत. ऐसा उपदेश भी अग्राह्य है जो आप्त पुरुष के द्वारा न दिया गया हो । सरागी पुरुष यदि वीतराग की तरह वाणी और काय की चेष्टा करने लगे तो वह वीतरागी नही कहा जा सकता इसी प्रकार अप्रामाणिक व्यक्ति यदि कोई सच्ची वात कहने लगे तो इससे उसको प्रमाणिक नही माना जा सकता और उसकी सत्य वात भी विश्वासनीय नही होती । उन्मत्त पुरुष जिसे सत् असत् का विवेक नही है माता को माता भी कहे फिर भी उसके वचन प्रामाणिक नही है ।

इसलिये जैनो मे किसी भी शास्त्र की परम्परा को खोजते समय उसका मूलत. सम्बन्ध किसी प्रमाणिक व्यक्ति के साथ खोजा जाता है । अत सभी शास्त्रो का मौलिक उद्गम सर्वज्ञ की वाणी ही होना ही चाहिये ।

जहाँ तक समयसार का प्रश्न है उसका मौलिक उद्गम भी परम भट्टारक सर्वज्ञ महावीर और उनकी वाणी से है । उसकी परम्परा मे निम्न वात कही जाती है ।

सर्वज्ञ भगवान महावीर के दिव्य उपदेशो को गौतम गणधर ने अपने ज्ञान वल से अवधारण किया । और वाद मे उन्हे शास्त्र रूप मे ग्रथित किया । ये ग्रथित शास्त्र अग कहलाये क्योकि इनमे से एक-एक का परिमाण लाखो करोडो पदो का सग्रह है । इस प्रकार गणधर द्वारा वारह अगो की रचना की गई । इनमे से वारहवे दृष्टिवाद अग को पाँच भेदो मे विभक्त किया गया । इन पाँच भेदो मे एक पूर्व नाम का भेद है । उसके चौदह भेद हैं । इनमे से पाचवे भेद का नाम ज्ञानप्रवाद है । इस ज्ञान प्रवाद मे वारह वस्तु (अधिकार) तथा एक-एक वस्तु (अधिकार) मे वीस-वीस प्राभृत है । आचार्य गुणधर (स० लगभग १३०) को इस ज्ञानप्रवाद पूर्व के दशवे वस्तु के तीसरे प्राभृत का ज्ञान था । उन्होंने अपने उत्तराधिकारी शिष्य श्री नागहस्ती आचार्य को उसका ज्ञान कराया । इनमे यतिनायक मुनि ने उस प्राभृत शास्त्र को पढा

श्रोतृ शब्द की यदि व्युत्पत्ति पर ध्यान दिया जाय तो, श्रृणोति अनेन इति श्रोत्रम् अर्थात् जिसके द्वारा सुनता है वह श्रोत्र है यह अर्थ होता है। यह सब जानते है कि कर्ण इन्द्रिय का काम सुनना है। लेकिन कर्ण इन्द्रिय सुनती तभी हे जब जीवित शरीर मे उसका सम्बन्ध हो और जीवित शरीर उसे ही कहते हैं जिसमे आत्मा हो अत सिद्ध होता है कि कान अचेतन होने से स्वय नही सुन सकते। आत्मा के सहयोग से ही वे सुन सकते है, यो कर्णेन्द्रिय से आत्मा का पार्थक्य सिद्ध होता है। यही बात अन्य इन्द्रियो के सबध मे भी लगा लेना चाहिए तब उक्त व्युत्पत्ति का अर्थ ठीक हो जाता है अर्थात् श्रोत्र जिसकी सहायता से सुनता है वह है आत्मा, इसलिये आत्मा श्रोत्र का श्रोत्र है स्वय आत्मा श्रोत्र नहीं है, आत्मा ही मन का मन है स्वय आत्मा मन नही है। आत्मा ही चक्षु का चक्षु है आत्मा स्वय चक्षु नही है आदि। केनोपनिषद् मे इस बात को आगे विस्तार से समझाया है।[1]

समयसार मे भी कुदकुदाचार्य यही कहते है —

"जीवस्स णत्थिवण्णो णवि गधो णवि रसो ण विय फासो।
णवि रूव ण सरीर णवि सठाण ण सहणण ॥५०॥"

अर्थ—आत्मा के न वर्ण है, न गध है, न रस है, न स्पर्श है, न रूप है, न शरीर है, न आकार है, न सहनन है।

"ववहारेण दु एदे जीवस्स हवति वण्णमादीया।
गुणठाणताभावा णदु केई णिच्चयणयस्स ॥५६॥"

जैनागम मे विभिन्न प्रकार के जीवो को इन्द्रियो के माध्यम से परिचय कराया गया है[2]। जिसके एक स्पर्शन इन्द्रिय है ऐसे वनस्पति आदि को एकेन्द्रिय तथा स्पर्शन रसना वाले शखादि जीवो को द्वीन्द्रिय तथा इसी प्रकार तीन, चार और पांच इन्द्रिय वाले जीवो को त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय नाम से कहा गया है। समयसार मे इन भेदो को व्यवहारिक दृष्टि कहा है और लिखा है।—

"एक्कच दोण्णि तिण्णिय चात्तारिय पच इदिया जीवा,
बादर पज्जत्तिदरा पयडीओ णाम कम्मस्स ॥६५॥
एदाहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणाउ करणभूदाहि,
पयडीहि पुग्गलमईहि ताहि कह भण्णदे जीवो ॥६६॥"

अर्थ—एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक जो जीवो के भेद है ये सब नाम कर्म की प्रकृति [illegible] पौद्गलिक (अचेतन) प्रकृति भेद से आत्मा के भेद कैसे किये जा सकते है।

[illegible] कि इन्द्रियाँ अचेतन प्रकृति से [illegible] है उनसे चेतन आत्मा

---

१ के० उप० [illegible]

२ [illegible]

जैन मत में इन्हें द्वादशांग श्रुत के नाम से कहा जाता है।

कुछ की कल्पना है कि कुन्दकुन्द ने समयसार को वेदान्त के साँचे में ढाला है। पर वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। कुन्दकुन्द के अध्यात्मवाद में और वेदान्त में मौलिक अन्तर है जिसका वर्णन समयसार और वेदान्त शीर्षक अध्याय में किया जायगा। फिर भी कुन्दकुन्द ने आत्मा की स्वतन्त्रता और अद्वैतता की चर्चा की है वह किस प्रमाण को लेकर किस अपेक्षा से की गई है यह देखने पर उनका दृष्टि भेद सामने आ जाता है। यह बात दूसरी है कि वर्णन शैली वेदान्त की व्याख्यात्मक शैली के अनुरूप लगती हो पर इससे वेदान्त समयसार का मौलिक आधार नहीं कहा जा सकता। यह शब्द साम्य जिन कारणों को लेकर है वह भी आगे स्पष्ट किया जायगा।

समयसार और उपनिषद

भारतीय अध्यात्म क्षेत्र में उपनिषद् ग्रन्थों का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन उपनिषदों को ज्ञानकाण्ड या ब्रह्मविद्या भी कहा जाता है। ब्रह्म का समझना अत्यन्त कठिन है क्योंकि यह प्राणी जिन इन्द्रियों से जानता देखता है ब्रह्म उन सब से अगोचर है। इस अगोचर विषय को किसी प्रकार गोचर करना ही उपनिषदों का काम है। उपनिषद् का शब्दार्थ कुछ भी हो पर उसका अभिप्राय रहस्य से है। आत्मा ऐसी ही वस्तु है पाँचों इन्द्रियाँ और मन से वह जानी समझी नहीं जाती अतः भौतिक शरीर के अतिरिक्त आत्मा का पृथक् ज्ञान नहीं होता। उपनिषद् ग्रन्थ उस आत्मा को ही पृथक् बताना चाहते हैं। समयसार में भी कुन्दकुन्द आचार्य ने प्रतिज्ञा की है कि मैं एक और पृथक् आत्मा को दर्शाऊँगा[1]

केनोपनिषद् में आत्मा को पृथक् करके बताने के लिए बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। पहले ही मन्त्र में पूछा गया है कि यह मन किसके द्वारा प्रेरित होकर विषयों की तरफ दौड़ता है प्राण किसके प्रयुक्त होकर चलते हैं प्राणी किसकी इच्छा से वाणी बोलता है तथा चक्षु और कान किसके द्वारा प्रेरित होते हैं। इसके उत्तर में लिखा गया है श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।

जो श्रोत्र का श्रोत्र है मन का मन है वाणी की वाणी है वही प्राण का प्राण है और चक्षु का चक्षु है। इस प्रकार जानकर धीर पुरुष लोक संसार से छूट होकर अमर हो जाते हैं।

---

1 गाथा नं० ५

सूक्ष्मेऽन्त सधिवधे निपतति रसादात्मकर्मोभयस्य
आत्मान मग्नमन्त स्थिर विशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे
वध चाज्ञानभावे नियमितमभित कुर्वती भिन्नभिन्नौ ।"

निपुण पुरुषो के द्वारा जब यह प्रज्ञा रूपी तीक्ष्ण छेनी आत्मा और वध के सूक्ष्म सधिस्थल मे गिराई जाती है तव आत्मा को चैतन्यपूर मे और वध को अज्ञान भाव मे नियमित कर दोनो को भिन्न-भिन्न कर देती है।

आत्मा की प्राप्ति के लिये उपनिपद्कार कहते है —

नायआत्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न वहुना श्रुतेन
यमेवैप वृणुते तेन लभ्यम्
तस्यैप आत्मा विवृणुते तूनूं स्वान् । कठो० अ० १ व० २ म० २३

यह आत्मा न शास्त्र व्याख्यान मे मिलता है न मेधा से न वहुत शास्त्र सुनने से मिलता है किन्तु उसको मिलता है जिसे वह स्वीकार करता है अर्थात् जिसे आत्मा के जानने की उत्कट अभिलाषा है। समयसारकार भी इसी भाव को निम्न प्रकार प्रकट करते है —

"मोक्ख असद्दहतो अभव्व सत्तो दु जो अधीएज्ज,
पाठो ण करेदि गुण असद्दहतस्स णाण तु ॥२९८॥

आत्मा सभी औपाधिक भावो मे मुक्त (पृथक्) है इस पर जो अभव्य प्राणी श्रद्धान नही करता उसको शास्त्र का पाठ करने से भी शुद्ध आत्मा का परिज्ञान नही होता, क्योंकि ज्ञान स्वरूप आत्मा का उसमे श्रद्धान नही है।

श्रद्धान शब्द का अर्थ रुचि भी होता है। आत्मा की रुचि सहित पुरुष ही आत्मा को प्राप्त करते है शास्त्र पढने या सुनने वाले नही। उपनिपद्कार का भी तीसरे-चौथे चरण मे यही भाव है।

आत्मा की निरूपणा का वर्णन करते हुए उपनिपद् मे कहा गया है .—

"हन्ता चेन्मन्यते हन्तु—हतश्चेन्मन्यते हतम्
उभौ तौ न विजानीतो नाय—हन्ति न हन्यते ॥१९॥ कठोप०

यदि कोई मारने वाला व्यक्ति अपने को मारने मे समर्थ मानता है और मारा [illegible] या मारा हुआ मानता है तो वे दोनो ही आत्मा को नही जानते। [illegible] मारती है न मारती है वह नित्य और ध्रुव है।

[illegible] मे [illegible] या मारा जाता हूँ' मान्यता को अज्ञान रूप अध्य- [illegible] —

"[illegible] हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहि सत्तेहि।
[illegible] णाणी एत्तो दु विवरीदो॥" स० सा० २४७॥
अर्थ—जो ऐसा मानता है मैं जीवो को मारता हूँ और अन्य जीव मुझे मारते

पृथक् ही हैं अतः दोनों को एक नहीं माना जा सकता।

काठोपनिषद् में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए उसके जानने का फल निम्न प्रकार बताया है —

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्चयत्
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते।

अ० १ व० ३ म० १५

अर्थ—जो शब्द स्पर्श रूप रस और गन्धरहित है जो अविनाशी है नित्य है अनादि अनन्त है महान तथा ध्रुव है उस परमात्मा को जानकर मृत्यु मुख से (यह जीव) सदा को छूट जाता है।

समयसार में आत्मा के सम्बन्ध में ठीक इसी प्रकार का वर्णन है

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।

शुद्ध आत्मा रसरहित है गन्धरहित है रूप रहित है शब्द रहित है अव्यक्त है (गूढ़ है) लिंगग्राह्य नहीं है मात्र चेतन गुण से सम्पन्न है।

दोनों में अर्थ साम्य ही नहीं है किन्तु शब्दसाम्य भी है। अन्तर इतना ही है कि उपनिषद् में अभाव मुख्य वर्णन है और समयसार में चेतनगुण पर जोर आत्मा का भावमुखेन भी वर्णन किया गया है। उपनिषद् में लिखा है —

एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ कठउ० अ० १ व० ३ म० १२

यह आत्मा सम्पूर्ण प्राणियों में माया में छिपे रहने से प्रत्यक्ष नहीं होता किन्तु सूक्ष्म तत्त्व के ज्ञाता पुरुष अपनी सूक्ष्म तीक्ष्ण बुद्धि से उसे देख लेते हैं। समयसार में भी आत्मा को जो बन्ध से आवृत है पहचानने के लिए प्रज्ञा छैनी का उपयोग बतलाया है। उसमें लिखा है —

कह सो घिप्पदि अप्पा पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा
जह पण्णाए विभत्तो तह पण्णा एव घित्तव्वो ॥२९६॥

प्रश्न—आत्मा को किस प्रकार ग्रहण करना (पहचानना) चाहिये ?

उत्तर—प्रज्ञा से आत्मा को ग्रहण करना चाहिए। जिस प्रज्ञा से आत्मा को बन्ध से पृथक् किया था उस ही उस प्रज्ञा से ग्रहण करना चाहिए।

'पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा॥ २९७॥

अर्थ—प्रज्ञा के द्वारा जिस आत्मा को ग्रहण किया है वह मैं हूँ और उससे भिन्न जो भाव हैं वे मुझसे भिन्न हैं।

इसी सम्बन्ध में समयसार के टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं —

"प्रज्ञाछैत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः

वस्तुत. यह सब क्षणिक स्वर्ग सुख के कारण हैं। इनसे मोक्ष नही मिलता।

समयसार मे भी इस प्रकार नित्य कर्म चेतना मे लीन रहने वालो की निन्दा की है। आचार्य कुन्दकुन्द लिखते है—

"सद्दहिय पत्तेदिय रोचेदिय तह पुणोवि फासेदि।
धम्म भोगणिमित्त णहु सो कम्मक्खय णिमित्त॥
स० सा० ॥ २६६ ॥

अभव्योहि नित्य कर्म फल चेतनानुरूप वस्तु श्रद्धते, नित्य ज्ञानचेतनामात्र न तु श्रद्धत्ते, नित्यमेव भेदविज्ञानानर्हत्वात्। तत. स कर्म मोक्षनिमित्त ज्ञानमात्र भूतार्थं धर्म न श्रद्धते। मोक्षनिमित्त शुभकर्म मात्रमभूतार्थ मेव श्रद्धत्ते। तत एवासौ अभूतार्थ-धर्मश्रद्धान, प्रत्ययनरोचन स्पर्शन्नैरुपरितन नवग्रैवेयक भोगमात्रमास्कदन्न पुनः कदाचन ज्ञानि विमुच्यते। ततोऽस्य भूतार्थश्रद्धानाभावात् श्रद्धानमपि नास्ति।

उक्त गाथा की ये आत्मख्याति टीका है। इसका अभिप्राय है कि अभव्य पुरुष नित्य कर्मफल चेतना के अनुरूप वस्तु का श्रद्धान करता है, नित्य ज्ञान चेतना भाव का अनुभव नहीं करता। क्योंकि कर्म और ज्ञान मे वह भेद नही समझता। इसलिये कर्म मोक्ष का कारण ज्ञानमात्र जो भूतार्थ धर्म हैं उसकी उसे श्रद्धा नही है मोक्ष के कारण शुभ कर्म मात्र को ही वह भूतार्थ समझता है। इसीलिए वह अभूतार्थ धर्म के श्रद्धान, ज्ञान रुचि और आचरण मे स्वर्ग से ऊपर नव ग्रैवेयक के भोगमात्र को प्राप्त करता है किन्तु ससार मे नही छूटता।

उपनिषद् और समयसार के इन दोनो उद्धरणो मे अद्भुत साम्य हैं उपनिषद् मे जहाँ प्रमूढ शब्द हैं समयसार टीका मे वहाँ अभव्य शब्द हैं। उपनिषद् मे नाकस्य पृष्ठे पद दिया है टीका मे उपरितन ग्रैवेयक पद दिया है।

आत्म साक्षात्कार के लिये उपनिषद्कार कहते हैं—

तमेवैक जानथ आत्मानमन्या।
वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतु ॥ ५ ॥ मु० उ० २।२।५।

अर्थात् उस एक आत्मा को ही जानो और सब बातें छोड दो। यही अमृतत्व प्राप्ति का सेतु साधन है।

समयसार मे भी अन्त मे यही प्रेरणा की गई है। आत्मा मोक्ष-प्राप्ति के लिये शास्त्र या आचार किसी के व्यवहार को छोडने का उपदेश देने के बाद आचार्य कहते हैं :

मोक्खपहे अप्पाण ठवेहि त चेव झाहि त चेय।
तत्थेव विहर णिच्च मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥ ४१२ ॥

है य सब मान्यताए निश्चय ही अज्ञान हैं और बध के कारण हैं और ऐसा जीव मूढ अज्ञानी कहलाता है ज्ञानी इससे विपरीत होता है।

अभिप्राय यह है कि आत्मा नित्य है न दूसरा को मार सकता है न दूसरा के द्वारा मारा जा सकता है इस स्थिति म वह इस प्रकार के अज्ञान रूप अध्यवसान से बध ही कर सकता है अन्य कोई उसका फल नही है।

आत्मा के बार म नचिकेता ने यमराज स इस प्रकार पूछा है—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद॥

धर्म अधर्म से रहित कार्याकारण स मुक्त तथा भूत भविष्यत् की परिधि से बाहर जो आत्म तत्व है उसे मुझे बतलाइ।

समयसार म भी पर परिग्रह से मुक्त आत्मतत्व का वर्णन किया है। उसम जहाँ आत्मा क अशन पान के परिग्रह को निषेध किया है वहाँ धर्म अधर्म के परिग्रह का भी निषेध किया है। गाथाए निम्न प्रकार हैं—

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणीय णिच्छदे धम्म।
अपरिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होई॥ २१०॥
अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणीय णिच्छदि अधम्म।
अपरिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि॥ २११॥ स० सा०

अर्थ—ज्ञानी इच्छारहित है इसलिए वह अपरिग्रही है। चूंकि वह धर्म अधर्म नहीं चाहता इसलिए वह धर्म अधर्म का परिग्रही नहीं है।

धर्म अधर्म स अभिप्राय पुण्य पाप स है। पुण्य पाप संसार बधन क कारण हैं आत्मज्ञानी पुरुष बधन के कारणो को नहीं चाहता इसलिए वह पुण्य पाप का परिग्रही नहीं है।

उपनिषद् मे इष्ट और पूर्त कर्मों को श्रेष्ठ समझने वालो को मूढ कहा है और लिखा है इसस व क्षणिक स्वग का अनुभव कर पुन निकृष्ट लोक म आते हैं—

इष्टापूर्त मन्यमाना वरिष्ठ
नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढा
नाकस्य पृष्ठे त सुकृते नु भूत्वे—
म लोक हीनतर वा विशन्ति। मु० उ० । २ । १०

इष्ट (श्रौतकर्म) पूर्त (स्मार्त कर्म) कर्मों को वरिष्ठ समझने वाले अत्यन्त मूढ पुरुष अन्य वस्तु को श्रेयस्कर नहीं समझते। व स्वर्ग के उपरितनभाग म पुण्यफल का अनुभव कर पुन मनुष्यलोक म अथवा उसस भी हीन तिर्यक अथवा नरकलोक म प्रवेश करते हैं।

"यागादिक इष्ट कर्म कहलाते है और वापी कूपतडागादि एवं स्मृत्युक्त पुण्यकार्य पूर्त कहलाते हैं। कुछ लोग इन्हें करते हुए ही अपने को कृतार्थ मानते हैं। पर

करता हुआ कर्मरूपी रज से लिप्त हो जाता है जैसे लोहा कीचड़ मे पडकर जग खा जाता है।

आगे बधाधिकार मे लिखा है—

"एव सम्माइट्ठी वट्ट तो वहु विहेसु जोगेसु
अकरनो उवओगे रागाइण लिप्पइ रजेण ॥२४६॥

इन तरह समयसार मे ज्ञानी कर्म से लिप्त न होने की बात को स्थान-स्थान पर अनेक दृष्टातो मे समझाया है जो प्राय उपनिषद् से मिलता जुलता है।

उपनिषद् (कठ०) मे लिखा है जैसे समस्त लोक का चक्षु सूर्य चक्षु के बाह्य दोषो से लिप्त नही होता वैसे ही सब प्राणियो की एक अन्तरात्मा' ससार के दु खो से पृथक होने के कारण उनसे प्रभावित नही होता।

समयसार मे भी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है किन्तु वहाँ सूर्य को चक्षु का रूपक न देकर स्वय चक्षु का ही उदाहरण दिया है। कुन्दकुन्द लिखते हैं कि चक्षु दृश्य पदार्थ से अत्यन्त भिन्न होने के कारण उसका कर्ता भोक्ता नही हैं अन्यथा अग्नि को जलाने वाले की तरह और अग्नि से सतप्त लोहपिंड की तरह अग्नि को देखने वाली चक्षु भी अग्नि की कर्ता तथा उसकी उष्णता को भोगने वाली हो जाएगी। उसी प्रकार ज्ञानी आत्मा अच्छे बुरे कर्मो का न कर्ता है न उनसे प्रभावित होता है केवल उन्हे जानता है। दोनो ग्रथो के उद्धरण इस प्रकार हैं—

"सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु
न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्य दोषै
एक स्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोक दु खेन बाह्य ॥ क० उ० २।२।११।
"दिट्ठी जहेव णाण अकारय तह अवेदक चेव
जाणइ य बध मोक्ख कम्मुदय णिज्जर चेव ॥

समता को प्राप्त होना मानते हैं जैसा कि निम्न मन्त्र में उल्लेख है —

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं।
कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्॥
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय।
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥ मु० उ० ३। १। ३

ज्ञानी पुरुष साधक सुवर्ण की तरह स्वयं ज्योति स्वरूप आत्मा के जब दर्शन करता है तब वह ज्ञानी पुण्य पाप दोनों को तिरस्कृत करके निर्लेप होकर परम समता को प्राप्त करता है।

समयसारकार भी संवर अधिकार में इसी प्रकार उपदेश देते हैं —

अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दो पुण्णपावजोएसु।
दंसणणाणम्हि ठिदो इच्छाविरओ य अण्णम्हि। १८७॥
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा।
णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चेयेइ एयत्तं॥ १८८॥
अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अणण्णमओ।
लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं॥ १८९॥

जो आत्मा को अपने ही द्वारा पुण्य और पाप से रोककर दर्शन ज्ञान स्वभाव में स्थित होकर अन्य पदार्थों में इच्छारहित होता है तथा सर्वसंग से मुक्त होकर अपने आत्मा का ध्यान करता है कर्म-नोकर्म को अपना नहीं मानता मात्र एकत्व का चिन्तन करता है वह आत्मध्यानी कर्मबन्धन से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है "न विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन"[1] अर्थात् आत्मा को जानकर आत्मज्ञानी पुरुष पापकर्म से लिप्त नहीं होता।

समयसार में इसी को लेकर बड़ा सुन्दर विवेचन किया है और लिखा है ज्ञानी कर्म करता हुआ भी कर्मरज से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता जिस प्रकार स्वर्ण कीचड़ में पड़कर भी कर्दम से प्रभावित नहीं होता और अज्ञानी अर्थात् आत्मा को न जानने वाला कर्म करता हुआ कर्मरज से कीचड़ में पड़े हुए लोह तरह की कर्मरज से लिप्त हो जाता है। दोनों गाथाएँ निम्न प्रकार हैं।

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
णो लिप्पदि रजएण दु कद्दममज्झे जहा कणयं॥२१८।
अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोहं॥२१९॥ निर्जरा० १०

सम्पूर्ण द्रव्य में राग द्वेष न करने वाला ज्ञानी कर्म करता हुआ भी कर्मरूपी रज से लिप्त नहीं होता। लेकिन अज्ञानी सम्पूर्ण द्रव्यों में राग करता है अतः कर्म

---

1 बृ० उ० ४।४।२३

जो मनुष्य बुद्धि की अशुद्धता से उस विषय मे शुद्ध स्वरूप आत्मा को कर्ता देखते हैं वे दुर्मति यथार्थ नही देखते ।

समयसार में अमृतचद्र आचार्य भी यही उपदेश देते है वे लिखते हैं

"येतु कर्तारमात्मान पश्यति तमसावृत्ताः
सामान्यजनवत्ते पान मोक्षोऽपि मुमुक्षताम्

स० सा० पृ० १९९

जो अज्ञानी पुरुष आत्मा को कर्ता देखते हैं वे मोक्ष के अभिलाषी होकर भी साधारण मनुष्यो की तरह मोक्ष प्राप्त नही कर सकते हैं ।

तब ज्ञानी कौन है इसका उत्तर कुन्दकुन्द इस प्रकार देते हैं—

"कम्मम्मय परिणामं णोकम्मस्सय तहेव परिणाम
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी

जो यह जानता है कि आत्मा कर्म अथवा नोकर्म के परिणाम को नही करता वह ज्ञानी हैं ।

गीताकार की मान्यता है कि प्राणी सम्पूर्ण कर्मों को छोड़ने मे समर्थ नही होता इसलिये यदि उसकी कर्मफल मे आसक्ति न हो तो वह त्यागी है अत.—

"अनिष्टमिष्ट मिश्रच त्रिविधं कर्मण फलम्
भवत्यत्यगिना प्रेत्य न तु सान्यासिना चित् गी० १८ । १२

कर्म का फल तीन प्रकार का है अनिष्ठ, इष्ट और मिश्र (इष्टानिष्ट) यह तीनो प्रकार का फल कर्मफल मे आसक्ति रखने वालो को परलोक मे मिलता है। कर्मफल के त्यागी सन्यासियो को नही मिलता ।

समयसारकार भी अपनी यही मान्यता प्रकट करते है —

"उवभोगमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराण
ज कुणदि सम्मदिट्ठी त सव्व णिज्जरणिमित्त"

सम्यग्दृष्टि प्राणी इन्द्रियो के द्वारा चेतन अचेतन पदार्थों का जो उपभोग करता है वह सब निर्जरा के लिये है उससे कर्मबधन नही होता ।

पशु-पशु सब एक है। श्रुति के उक्त मन्त्र का भी अर्थ उसी प्रकार किया जा सकता है। अर्थात् आत्मा सब एक है और इन्द्रियग्राह्य न होने से वह सब जीवों में गूढ़ अर्थात् अव्यक्त है।

समयसार के प्रख्यात टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मस्वरूप की इस प्रकार व्याख्या की है —

'आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकम्
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति

उक्त व्याख्या में आत्मा के लिये 'एक' पद दिया है।

एक दूसरे श्लोक में आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है एकत्वेनियतस्य वहाँ भी आत्मा को एकत्व में नियत बतलाया है। इसलिये ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ पुरातन वाक्यों में अर्थभेद हुआ तो उनके आधार पर सिद्धान्त भेद हो गये हैं और जब सिद्धान्त भेद हुए तो नई रचनाएँ उनके आधार पर की गई। इस तरह मतभेद बढ़े और विभिन्न दर्शनों की उत्पत्ति हुई लेकिन जहाँ तक मौलिकता का प्रश्न है वह कभी एक ही रही है।

समयसार और गीता

गीता का प्रधान ध्येय सांख्ययोग और कर्मयोग द्वारा भगवत् प्राप्ति है। सांख्य योग में देह और इन्द्रियों में आसक्ति छोड़कर सभी कर्मों में अपने को अकर्ता मानकर कर्तृत्व के अहंकार से विहीन हो सन्यास के द्वारा भगवत् प्राप्ति का वर्णन है। तथा कर्मयोग में फल की आसक्ति छोड़कर साम्यभाव से बिना किसी इच्छा के कर्म करना एवं भगवान के नाम गुण आदि का चिन्तन करना और भगवत् प्राप्ति में प्रयत्नशील रहना है।

समयसार में भी आत्मा के अकर्तृत्व का बड़ा सुन्दर विवेचन किया है और इसके लिए कर्तृकर्म नाम का एक स्वतन्त्र अध्याय ही दिया है जिसमें कर्ता और कर्म की व्याख्या करते हुए युक्तिपूर्वक आत्मा को पर का अकर्ता बतलाया है। सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार में भी आत्मा की अशुद्धता का वर्णन करते हुए उसे पूर्णतया अकर्ता लिखा है। साथ ही ज्ञानी के लिए लिखा है कि वह कर्म करता हुआ भी कर्म के फल को नहीं चाहता अतः ज्ञानी के भोगोपभोग भी निर्जरा के कारण हैं। यहाँ गीता और समयसार के कुछ प्रकरण दिये जाते हैं जिससे दोनों के साम्य का कुछ अनुभव हो सके —

गीताकार कहते हैं — मनुष्य जो कर्म करता है उसके पाँच कारण हैं अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा, दैव। शरीर वचन और मन के द्वारा होने वाले सब प्रकार सभी प्रकार के कर्म इन पाँचों के द्वारा होते हैं आत्मा उनका कर्ता नहीं है फिर भी

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ गी० १८। १६

इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते (अ० ४ श्लो० १४)

मुझ से कर्म लिप्त नहीं होते न कर्म मे मेरी स्पृहा है, इस प्रकार जो मुझे जानता है वह कर्म से नहीं बँधता ।

समयसार मे परमात्म स्वरूप शुद्ध आत्मा का भी इसी प्रकार वर्णन किया गया है । तथा आगे चलकर लिखा है—

"जीवे कम्म बद्ध पुट्ठ चेदि ववहारणय भणिद
सुद्धणयस्सदु जीवे अवद्धपुट्ठ हवइ कम्म

जीव मे कर्मबद्ध हैं या स्पृष्ट हैं यह व्यवहारनय से कहा जाता है शुद्धनय से जीव मे कर्मबद्ध या स्पृष्ट नही हो । अभिप्राय यह है कि गीताकार की तरह कुन्दकुन्द भी शुद्ध आत्मस्वरूप मे कर्म के लेप नही मानते हैं पर्याय दृष्टि से भले ही यह कहा जाय कि आत्मा कर्म से लिप्त है लेकिन यह औपचारिक कथन है यथार्थ नहीं।

आगे चलकर गीताकार कहते हैं कि कर्मफल और कर्तृत्व की भावना से रहित होकर कर्म करता हुआ भी यह प्राणी अकर्ता कहलाता है—

"त्यक्त्वा कर्मफलासग नित्यतृप्तो निराश्रय'
कर्मण्यभिप्रवृत्तो पिनैव किचित्करोति स. ॥ अ० ४, श्लो २० ॥

पर के आश्रय से रहित, नित्य आनन्द स्वरूप आत्मा मे तृप्त होकर जो कर्म फल और उसके कर्तृत्व अभिमान से रहित हैं वह कर्म मे प्रवृत्त होकर भी कुछ नहीं करता ।

समयसार के कर्ता इस प्रसग को उदाहरण सहित निम्न प्रकार कहते है—

"णाणि रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो
णो लिप्पदि रजएण दु कद्दममज्झे जहा कणय ॥२१८॥

संसार के पदार्थों मे राग न करने वाला ज्ञानी पुरुष कीचड मे पडे हुए सुवर्ण की तरह कर्म रज मे लिप्त नही होता ।

गीता के श्लोक मे कर्मफल और उसकी आसक्ति के त्याग करने वाले को कर्म करते हुए अकर्ता माना है । आसक्ति और राग प्राय. एकार्थ वाचक हैं । इसलिए दोनों का अभिप्राय मिलता-जुलता है ।

इसी प्रकार से गीताकार पाप को कौन नही प्राप्त होता इसका वर्णन करते हुए लिखते है —

"निराशीर्यत चित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रह.
शारीरं केवल कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम ॥ अ । ४ । श्लो० २

[illegible] सब परिग्रह को छोड देने वाला आशा रहित पुरुष मात्र शारीरिक कर्म करता हुआ पाप को प्राप्त नहीं होता ।

समयसारकार [illegible] को कौन प्राप्त होता है इसका उत्तर देते हुए लिखते हैं —

अर्जुन ! तुम्हारा मात्र कर्म करने में अधिकार है फल में नहीं है। कर्मों के फल की तू इच्छा भी मत कर और न कर्म करने से विरत हो।

आचार्य कुन्दकुन्द सम्यग्दृष्टि का निष्कांक्षित आदि गुणों का उपदेश देते हुए लिखते हैं—

> जो दु ण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु
> सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ।।
>
> स० सा० गा० २३०

जो कर्मों के फल में तथा अन्य सभी वस्तुओं के धर्मों में कांक्षा नहीं करता वह आत्मा सम्यग्दृष्टि है। गीता में आत्मरत होने के लिए इस प्रकार उपदेश दिया है—

> यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः
> आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।। ३ । १७ ।
> तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः
> गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ।। ५ । १७ ।।

जिस मनुष्य की आत्मा में रुचि है जो आत्मा में तृप्त है और आत्मा में ही सन्तुष्ट है उसे फिर कुछ करना शेष नहीं रहता।

आत्मा में ही जिनकी बुद्धि है जो आत्म स्वरूप हो गये हैं आत्मा में ही जिनकी निष्ठा है आत्मा में ही जो तल्लीन है वे आत्मज्ञान से पापों को नष्ट कर फिर संसार में नहीं आते।

आचार्य कुन्दकुन्द भी समयसार में ऐसी ही प्रेरणा करते हैं। वे लिखते हैं कि आत्मज्ञान से रहित अनेक पुरुष उस परम पद को प्राप्त नहीं होते इसलिए यदि तू कर्मबन्धन से मुक्ति चाहता है तो उस ज्ञान को ग्रहण कर तथा—

> एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि
> एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं ।
>
> स० गा० २०६
>
> मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय
> तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु
>
> स० गा० ४१२

तू इस आत्मा में ही नित्य रत रह, नित्य आत्मा में ही संतुष्ट हो, नित्य आत्मा से ही तृप्त हो इसी से तुझे उत्तम सुख प्राप्त होगा।

दूसरी गाथा का अर्थ पहले दिया जा चुका है। गीता में तृप्त और संतुष्ट रहने को श्रेय कहा गया है यही बात रत्न त्रिता और संतुष्टा प्रादुर्भूत में समयसार में दिये गये हैं।

गीता में भगवान् द्वारा कहा गया है—

> न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा

जो आत्मा को अवद्धस्पृष्ट, अनन्य अविशेष देखता हैं वह सम्पूर्ण द्रव्यश्रुत भावश्रुत-रूप जिन शासन को समझता है।

गीता मे भूत शब्द और समयसार मे पुद्गल शब्द एक ही अर्थ मे प्रयुक्त हुये है। गीता मे भूतभाव से पृथक आत्मा को देखने को कहा हैं और समयसार मे पुद्गल से अवद्ध स्पृष्ट आत्मा को देखने को कहा है।

इसी तरह गीता मे प्रकृति को कर्म का कर्ता मानकर आत्मा को अकर्ता देखने की प्रेरणा की गई जैसा कि निम्न श्लोक से स्पष्ट है।

"प्रकृत्यैवच कर्माणि क्रियमाणानि सर्वश
य. पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ अ०१३, श्लोक २९ ॥

जो कर्मों को प्रकृति के द्वारा किये हुये मानता हैं तथा आत्मा को अकर्ता देखता हैं वही देखता हैं।

कुन्द कुन्द इसी वात को दूसरी तरह से लिखते है :—

"अण्णाणी कम्मफल पयडि सहावट्ठिदो दु वेदेदि
णाणी पुण कम्फल जाणदिउदिद ण वेदेदि"

अज्ञानी प्रकृति स्वभाव में स्थित होकर कर्मफल का वेदन करता हैं ज्ञानी कर्म फल का वेदन नहीं करता केवल उसके उदय को जानता हैं।

तात्पर्य यह है कि ज्ञानी प्रकृति स्वभाव मे अपने को भिन्न मानता हैं इसलिये प्रकृति निष्पन्न कर्मों का वेदन उसे नही होता चूंकि अज्ञानी अपने को प्रकृति से अभिन्न मानता है इसलिये वह कर्म का वेदन करता हैं। स्पष्ट हैं कि कर्म प्रकृति के कार्य हैं और उसका कर्ता नही है जब कर्ता न हो तो उसका वेदक (भोक्ता) भी कैसे हो सकता है। ऊपर गीता मे भी इसी तथ्य को स्वीकार किया गया हैं।

गीता अध्याय तीन मे लिखा है :—

"प्रकृते क्रियमाणानि गुणै कर्माणि सर्वश
अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥

प्रकृति के गुणों से ही सब कर्म किये गये हैं किन्तु अहंकार मूढ आत्मा मै कर्ता हूं ऐसा मानता है।

'अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दो पुण्णपावजोएसु
दंसणणाणह्मि ठिदो इच्छाविरओ य अण्णह्मि
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा
णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं
अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अणण्णमओ
लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं' ॥१८७-१८९॥

पुण्य पाप दोनो से अपने को हटाकर पर में इच्छाविहीन होकर अपने दर्शनज्ञान स्वभाव में स्थिर रहने वाला सब प्रकार के परिग्रह को छोड़कर अपनी आत्मा का ही ध्यान करने वाला तथा कर्म नोकर्म की चिन्ता से रहित एकत्व का चिन्तन करने वाला आत्मा कर्म रहित शुद्ध आत्मा को प्राप्त कर लेता है।

पाप से लिप्त न होना या आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेना एक ही बात है। गीता में 'यतचित्तात्मा' विशेषण है यहां पुण्य पाप के निरोध की बात है। दोनो का अभिप्राय एक ही है। गीता में 'त्यक्तसर्वपरिग्रह' की बात है। यहां सव्वसंगमुक्को का कथन है। दोनो का भाव एक ही है। इस प्रकार गीता और समयसार अनेक प्रसंगो में एक साथ चलते हैं।

गीता में भूतभाव से पृथक् कर आत्मा को देखने की प्रेरणा करते हुये लिखा है —

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥अ० १३ श्लोक ४॥

समस्त भूतों से पृथक् जो एक आत्मा को देखता है तथा भूतों के विस्तार को आत्मा के आधार से समझता है वही ब्रह्म को प्राप्त होता है।

समयसार में भी २८ से ३० गाथाओं की व्याख्या करते हुये अमृतचन्द्र आचार्य लिखते हैं —

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्व कौतूहली सन्
अनुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्
पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्

श्लोक ४। जिज्ञासा रखकर जैसे भी हो इस शरीर से पृथक् पड़ोसी बनकर एक क्षण भर के लिये अपनी आत्मा का अनुभव कर जिससे पुद्गल के साथ एकत्व का मोह तू छोड़ सके।

स्वयं कुन्दकुन्द भी पुद्गल से अबद्धस्पृष्ट आत्मा के दर्शन की प्रेरणा करते हैं —

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं
अपदेससुत्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥ १५ ॥

सर्वत्र बुरा तथा हेय बतलाया है। व्रती के लिये तीन शल्यों[1] मे निदान को भी शल्य बतलाया है।

इस प्रकार यहाँ तक तो गीता और जैन मान्यता में कोई अन्तर नहीं है लेकिन जब गीता के उक्त श्लोक की व्याख्या यों की जाती है 'कि कर्म करने मे तेरा अधिकार है फल और फल के साधनो मे नही है क्योकि फल और उसके साधन तो ईश्वर के आधीन है……। तब मतभेद खडे हो जाते है। क्योकि जैन सिद्धान्त ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी लोक के प्रति उसके कर्त्तृत्व को स्वीकार नही करता। इसलिये गीता के मूल अर्थ मे विवाद न होते हुए भी उसकी व्याख्या मे विवाद और मतभेद सामने आ जाते हैं। गीताकार तो स्वय ही आगे चलकर इस व्याख्यापरक अर्थ का खण्डन कर देते है वे लिखते है :—

न कर्त्तृत्व न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभु:
न कर्मफल सयोग स्वभावस्तुप्रवर्त्तते
नादत्ते कस्यचित्पाप न कस्य सुकृत्त विभु:
अज्ञानेनावृत्त ज्ञान तेन मुह्यन्ति जन्तव: ॥ गी० ५,१४-१५ ॥

लोक के कर्तृत्व और लोक के कर्मों का ईश्वर सृजन नही करता और न कर्म के फल का सयोग पैदा करता है। यह सब कुछ स्वभाव से ही होता है। ईश्वर किसी का पाप पुण्य भी नही हरता किन्तु ज्ञान अज्ञान से आवृत है अत: ये प्राणी भी उस अज्ञान से ही मोहित हो रहे हैं।

उक्त उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है मतभेद मूल मे नही हैं। अत: यदि गीता और समयसार में आत्मतत्व की समानता के बीज मिलते हैं तो कोई आश्चर्य नही है। यही बात उपनिषद् वेदान्त आदि के सम्बन्ध में भी है वेदान्त का समयसार के साथ तुलनात्मक अध्ययन हम आगे के प्रकरण मे उपस्थित कर रहे हैं। सम्पूर्ण गीता अर्जुन के प्रति भगवान श्रीकृष्ण का उपदेश है। यदि भगवान श्रीकृष्ण को परमात्मस्वरूप शुद्ध आत्मा का उपलक्षण मानकर आत्मा के द्वारा ही आत्मा के लिए गीता का प्रतिपादित उपदेश माना जाय तो उसके अर्थों का समयसार के अर्थों से कहीं असंगति नही आ सकती। उद्धरण देकर उस विषय को समझाने के लिए एक स्वतन्त्र रचना की आवश्यकता है। फिर भी अपने मन्तव्य को स्पष्ट करने के लिए एक उद्धरण देने का लोभ हम संवरण नही कर सकते। भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते है :—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफलस्पृहा
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्नसबध्यते

हे अर्जुन! मुझे कर्म लिप्त नहीं होते न मेरी कर्म फल में कोई इच्छा है इस प्रकार जो मुझे जानता है वह कर्मों से बद्ध नहीं होता।

---

१ माया, मिथ्यात्व, निदान

रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध
चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः

इस अनादि काल से अविवेक रूपी नाटक में वर्ण आदि युक्त पुद्गल ही नृत्य करता है। यह जीव तो रागादि पुद्गल विकारों के विरुद्ध चैतन्य धातुमय है अर्थात् पुद्गल से सर्वथा भिन्न है।

गीता का प्रकृति तत्व और समयसार के पुद्गल तत्व में कोई भिन्नता नहीं है। गीताकार कर्मों को प्रकृति के गुणों द्वारा किया हुआ मानते हैं और समयसार के कर्ता कर्मों को पुद्गल कृत मानते हैं। गीता की मान्यता से प्रकृति के द्वारा किये हुये कर्मों का अहंकारी आत्मा अपने किए हुये मानता है और समयसार की मान्यता से पुद्गल के द्वारा किये हुए कर्मों को अज्ञानी अपने किये हुए मानता है। लेकिन दोनों की दृष्टि में आत्मा कर्मों का अकर्ता है केवल प्रकृति और पुद्गल ही यह सब कुछ किया करते हैं।

वस्तुतः गीता में आत्म तत्व का जैसा वर्णन किया गया है समयसार में भी लगभग वैसा ही है। इसका अर्थ यह नहीं है कि गीता से समयसार में कुछ लिया गया है अथवा समयसार से गीता में लिया है। यहाँ तुलनात्मक विवेचन मात्र इस दृष्टि से किया गया है कि हम आत्मा के सम्बन्ध में मूल भारतीय विचारधारा को समझ सकें। भारतीय ऋषियों ने जो कुछ चिन्तन किया उसमें व्याख्यात्मक भेद भले ही आ गया हो किन्तु मौलिक मतभेद नहीं रहा है। उदाहरण के लिए गीता का यह श्लोक लिया जा सकता है —

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥गी० २।४७॥

इसका सीधा और सरल अर्थ है—कर्म करने में तेरा अधिकार है कर्म और फल के कारण में नहीं और अकर्मण्य बनकर रहना भी तुझे उचित नहीं है।

उक्त अर्थ में किसी को विवाद नहीं है जैनों ने भी इस अर्थ को सिद्धान्त ही माना है। सम्यग्दृष्टि के लिए उक्त लक्ष्य को उन्होंने सुस्पष्ट रूप से स्वीकार करते हुए लिखा है जो कर्म, कर्म के फल तथा अन्य किसी धर्म में कांक्षा नहीं करता है वह कांक्षारहित आत्मा सम्यग्दृष्टि है[1]। सम्यग्दर्शन के आठ अंगों में निःकांक्षित नाम का एक अंग है। निर्दोष सम्यग्दर्शन को धारण करने के लिए प्रत्येक अंग का आचरण करना अनिवार्य है। अतः सम्यग्दृष्टि का कर्म करते हुये फल की आकांक्षा नहीं करना क्योंकि जैनों की भाषा में परिभाषा में इस निष्काम कहा है और निष्काम को

---

१ जो दु ण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ स० सा० २३०॥

'मोहण कम्मस्सुदया दु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा
ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता ॥ स० सा० ६८॥

जीव के जिन गुण स्थान रूप अन्तरग भावो को मोह के उदयपूर्वक बतलाया है वे भाव जीव कैसे हो सकते है ' वे तो नित्य अचेतन है।

इसकी व्याख्या मे कलश लिखते हुए अमृतचन्द्र कहते है '—

"रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध—
चैतन्यधातुमयमूर्तिरियं च जीव "

राग द्वेष, मोह पौदगलिक विकार है। इनमे विपरीत यह जीव शुद्ध चैतन्य धातुमय है।'

जैन शास्त्रो मे समस्त श्रुत के पारगामी को श्रुत केवली कहा है। परन्तु समयसार मे श्रुत केवली की व्याख्या इस प्रकार की है .—

"जो हि सुयेणहिगच्छइ अप्पाणमिण तु केवल सुद्ध
त सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोलप्पईवयरा ॥९॥

जो श्रुत के द्वारा केवल शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है उसी को लोक के प्रकाशक ऋषियो ने श्रुतकेवली कहा है। आत्मा को एक और शुद्ध अनुभव करने के लिये आचार्य कुदकुंद निम्न प्रकार उल्लेख करते है .—

"अहमिक्को खलु सुद्धो दसणणाण मइयो सदा रूवी
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्ण परमाणुमित्तंपि'

मैं एक, शुद्ध हूँ। ज्ञान दर्शन मय हूँ, अन्य परमाणुमात्र भी मुझमे कुछ नही है। इस प्रकार समयसार मे मात्र शुद्ध आत्मा के अनुभव की प्रेरणा की गई है और बताया गया है कि प्रत्येक आत्मा शुद्ध सिद्ध परमात्मा की तरह ही सर्वज्ञ, सर्वदृष्टा और अनन्त शक्तिमान है। द्रव्य दृष्टि से आत्मा और परमात्मा मे कोई अन्तर नही है। केवल पर्याय दृष्टि से उनमे भेद है। जब यह जीव पर्याय दृष्टि को गौण कर द्रव्य-दृष्टि से अपनी ओर देखता है तो वह अपने को परमात्मा स्वरूप ही अनुभव करता है। यह अनुभव ही इसकी मोक्ष दशा है। इसी अनुभव रूप अभ्यास के बल पर यह साक्षात्कार मे परमात्मा बन जाता है। अत. वेदान्त का 'तत्वमसि' और जैनो का 'सोऽहम्' दोनो एक ही अभिप्राय और एक ही उद्देश्य को सिद्ध करते हैं।

वेदान्त मे ब्रह्म को एक, अद्वैत एवं आदि अन्त रहित माना है। समयसार में भी शुद्ध आत्मा के लिए भिन्न-भिन्न स्थानो पर इन विशेषणो का उपयोग किया गया है। अमृतचन्द्र आचार्य एक स्थल पर आत्मा के दर्शन की बात इस प्रकार लिखते है :—

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मन
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्य पृथक्
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानय
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसंततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु न ॥स. सा कलश ६॥

समयसार की शुद्ध द्रव्य दृष्टि को यदि सामने रखा जाय तो समयसार के प्रतिपाद्य विषय में और उक्त श्लोक के अर्थ में कोई अन्तर शेष नहीं रह जाता। शुद्ध द्रव्य दृष्टि से प्रत्येक आत्मा चाहे वह संसारी हो क्या न हो कभी कर्म से लिप्त नहीं होता वह त्रिकाल शुद्ध है क्योंकि दो द्रव्य मिलकर कभी एक नहीं होते। आत्मा और कर्म क्रमश चेतन और अचेतन हैं यदि दोनों मिलकर एक हो जाय तो या तो आत्मा अचेतन हो जायगी या अचेतन कर्म चेतन हो जायगा। इसीलिए समयसार में लिखा है जो आत्मा को अबद्धस्पृष्ट देखता है वह सब जिन शासन का जानता है या पर्याय दृष्टि से संसारी आत्मा बद्ध है फिर भी उसे अबद्धस्पृष्ट देखने के लिए प्रेरणा करना उसके शुद्ध द्रव्य रूप को देखना है। और जिसने आत्मा की शुद्धता को समझा है वही कर्म में लिप्त नहीं होता। अत गीता के उक्त श्लोक का अर्थ यों किया जाय कि भगवान बनकर यह आत्मा स्वयं आत्मा को संबोधन करके कहता है कि न मुझे कर्म लगते हैं न मैं कर्मफल की वांछा करता हूँ इस प्रकार जो मुझे जानता है वह कर्म से नहीं बंधता तो ऐसा मालूम पड़ता है यह समयसारकार ही कह रहे हैं। यदि ऐसा न माना जाय तो अर्जुन को युद्ध कर्म से विरत देखकर भगवान का यह कहना कि मुझसे कर्म लिप्त नहीं होते कोई संगत अर्थ नहीं बैठता। जब अर्जुन को युद्ध के लिए प्रेरित किया जा रहा है तब अर्जुन का ही यह कहना लागू होता है। तू (अनासक्त होकर) युद्ध कर तुझे कर्म लिप्त नहीं होंगे इस प्रकार और भी अनेक अर्थों की संगति बैठाई जा सकती है। अत गीता और समयसार के प्रतिपाद्य विषय में एकरूपता को देखने के लिए दोनों के मूलानुगामी अर्थ की गवेषणा करना चाहिए। व्याख्याओं एवं टीकाओं को थोड़े समय के लिए गौण कर देना चाहिए। फिर देखना चाहिए कि गीता और समयसार कहां तक साथ-साथ चलते हैं।

समयसार और वेदान्त —

भारतीय दर्शनों में वेदान्त का प्रमुख स्थान है। और जैन दर्शन के अतिरिक्त यही एक दर्शन ऐसा है जिसने एकमात्र आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में खोज की है। अन्य दर्शनों ने केवल भौतिक जगत् की छानबीन की है और आत्मा को अन्य द्रव्यों की तरह एक चेतन द्रव्य मानकर छोड़ दिया है उसके सम्बन्ध में आगे उन्होंने कुछ नहीं कहा। जहाँ तक परमात्मा का सम्बन्ध है उसका सम्पूर्ण विश्लेषण उसके सृष्टिनिर्माण का आधार बनाकर ही किया है। वह स्वयं अपने आप में क्या है और उसका क्या रूप है इस विषय में अन्य दर्शन मौन हैं। जैन दर्शन ने जहाँ भौतिक जगत् की छानबीन की है वहाँ उसने आत्मा और परमात्मा के ऊपर भी अपने निष्पक्ष और विस्तृत विचार दिए हैं। समयसार उन्हीं विस्तृत विचारों में से एक है। अत यह आवश्यक हो जाता है कि समयसार और वेदान्त पर कुछ तुलनात्मक दृष्टि डाली जाय और उनके मौलिक मन्तव्यों की चर्चा की जाय।

करता है। इस तरह आत्मा को अद्वैत मानने में वेदान्त और समयसार में कोई मतभेद नहीं है भले ही दोनो में दृष्टि भेद हो।

आत्मा को आदि अन्तरहित मानने में भी वेदान्त और समयसार दोनो एक मत हैं। शुद्धनय मे आत्मस्वभाव का वर्णन करते हुए समयसार मे लिखा है:—

आत्मस्वभाव परभावभिन्नमा पूर्णं माद्यन्तविमुक्तमेकम्
विलीनसकल्पविकल्पजाल प्रकाशयन् शुद्धनयोयुदेति

॥ स. सा क. १० ॥

परभाव से पृथक, सर्वथा परिपूर्ण, आदि अन्त रहित, एक, सकल्प, विकल्प जिसके नष्ट हो चुके हैं ऐसे आत्मस्वभाव को यह शुद्ध नय बतलाता है।

ठीक इसी प्रकार वेदान्त ने भी ब्रह्म का स्वरूप माना है। विवेक चूडामणिकार लिखते है —

'अत पर ब्रह्म सदद्वितीय विशुद्धविज्ञानघन निरजनम्
प्रशान्तमाद्यन्तविहीनमक्रिय निरन्तरानन्दरसस्वरूपम्' ॥

ब्रह्म (जगत) इससे भिन्न है, वह सत् रूप है, अद्वितीय है, विशुद्ध विज्ञान घन है, प्रशान्त है, आदि अन्त से रहित है, निष्क्रिय है, सदा अनान्द रस स्वरूप है।

यहा समयसार और विवेक चूडामणि के इन श्लोको पर ध्यान देने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि दोनो एक दूसरे के कितने निकट है। दोनो ने आत्मा और ब्रह्म के लिए जिन विशेषणों का उपयोग किया है उनकी तुलना नीचे दी जाती है:—

समयसार	विवेक चूडामणि
परभावभिन्नम्	अत. परम्
आपूर्णम्	सत्
आद्यन्तविमुक्तम्	आद्यन्तविहीनम्
एकम्	अद्वितीयम्
विलीनसकल्पविकल्पजालम्	प्रशान्तम्

[illegible] विशेषण का भी स्थान-स्थान पर समयसार मे उपयोग [illegible] जैसे [illegible] मे भिन्न लवण का स्वाद लें तो एक लवण का ही [illegible] के सयोग से रहित-यदि एक आत्मा का अनुभव [illegible] मे ही उसका अनुभव होता है:—

[illegible] केवल एवानुभूयमान: सर्वतोप्येकलवण [illegible] संयोगव्यवच्छेदेन केवल एवानुभूयमानः [illegible]' । स. सा. आत्मख्याति टी० ॥ उसका अर्थ [illegible]।

[illegible] इसी प्रकार वर्णन किया गया है:—

[illegible] नैवानुनिर्गंदर् न हि अन्य दर-

निश्चय दृष्टि से जो एक है व्याप्त है और पूर्ण ज्ञान घन है ऐसा आत्मा को अन्य द्रव्यों से पृथक देखना सम्यग्दर्शन है और यह आत्मा उस सम्यग्दर्शन स्वरूप ही है। इसलिये नवतत्वों (जीव, अजीव आस्रव, बंध संवर निर्जरा मोक्ष, पुण्य, पाप) की परम्परा को छोड़कर हम केवल एक आत्मा को ही चाहते हैं।

उक्त श्लोक में एकत्वे नियतस्य और व्याप्तुः ये दो विशेषण आत्मा के ठीक वैसे ही हैं जैसे वेदान्त में माने गये हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि वेदान्त ने जहां इन्हें सर्वथा माना है वहां समयसार में नय विवक्षा से इन्हें अंगीकार किया है आत्मा भले ही व्यक्तिगत भिन्न-भिन्न हों पर स्वरूप की दृष्टि से वे सब एक ही हैं। इस दृष्टि से चींटी या हाथी की आत्मा में शूद्र या ब्राह्मण की आत्मा में कीट पतंगों या मनुष्य की आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। यह एक ही आत्मा आवरण से आच्छादित होकर विश्व में अनेक रूप धारण करती रहती है। हम मूर्तिमान जो कुछ भी दिखाई दे रहा है वह मनुष्य पशु पक्षी कीट पतंगादि है या पृथ्वी अप तेज वायु और वनस्पति इनसे भिन्न कुछ भी नहीं है। ये सभी वस्तुएं त्रस अथवा स्थावर जीवों की पर्यायें हैं। सारा चराचर जगत इन्हीं से भरा पड़ा है। इस दृष्टि से आत्मा की व्यापकता भी सिद्ध होती है। दूसरी दृष्टि यह है कि शुद्ध आत्मा स्वभावतः सर्वज्ञ है। जो सर्वज्ञ होता है वह सभी देश और सभी काल की बात को जानता है। जब वह सबको जानता है तब वह सर्वत्र ही रहता है ऐसा लोक में माना जाता है। सबके हृदय की बात जानता है अतः घट घट व्यापी कहा जाता है। या ज्ञान की अपेक्षा भी वह सर्वत्र व्याप्त है। तीसरी दृष्टि सम्पूर्ण लोक के बराबर इस आत्मा के प्रदेश हैं और केवलिसमुद्घात अवस्था में यह सर्वत्र लोक में व्याप्त हो जाता है अतः आत्मा व्यापक है। अभिप्राय यह है कि विवक्षा कुछ भी रही हो पर समयसार में भी आत्मा को एक और व्यापक कहा गया है।

आत्मा की अनुभूति के विषय में समयसार के टीकाकार इस प्रकार उल्लेख करते हैं —

> उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं
> क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्
> किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन्
> ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥ स० क० ९ ॥

आत्मा का अनुभव करते समय नय प्रमाण निक्षेप की तो बात ही क्या है यहां द्वैत का भी प्रतिभास नहीं होता।

इसका स्पष्ट अर्थ है कि जब यह आत्मा स्वसंवेदन करता है तब वह एक अखण्ड का ही अनुभव करता है।

वेदान्त में भी अहं ब्रह्मास्मि जब यह अनुभव करता है तब सत्ता का प्रत्येक अंश उसकी दृष्टि से ब्रह्ममय हो जाता है और वह एक अखण्ड का ही अनुभव

है वह शुद्धनय है।

यहाँ एक 'नियत' विशेषण को छोड़कर सर्वत्र नञ् समास का प्रयोग कर नेति-नेति का ही सहारा लिया गया है।

आगे पन्द्रहवी गाथा मे भी थोडे हेर-फेर से इसी प्रकार निषेधात्मक विशेषणो से शुद्ध आत्मा का स्मरण किया गया है। पुनः ५५ वी गाथा से लेकर ६१ वी गाथा तक लिखा है कि जीव के वर्ण, गध, रस, स्पर्श रूप, शरीर, आकार, सहनन, राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्द्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योग-स्थान, बधस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबधस्थान, सक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, सयमल-ब्धिस्थान, जीवस्थान, गुणस्थान आदि कुछ भी नही हैं।

ये सब वर्ण से लेकर गुणस्थान पर्यंत भाव व्यवहारनय से है निश्चय से कोई नही है। १५१ वी गाथा मे भी व्यवहार दृष्टि का निषेध कर निश्चय दृष्टि स्थापन करते है—

"जीवे कम्म बद्ध पुट्ठ चेदि व्यवहारणयभणिद।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्ध पुट्ठ हवइ कम्म ॥स० सा० ॥

जीव कर्म से बद्ध और स्पृष्ट है यह व्यवहारनय कहता है, शुद्धनय से जीव मे कर्म बद्ध स्पृष्ट नही है।

इस प्रकार व्यवहार मे आत्मा के सम्बन्ध मे जो कुछ भी आगम मे कहा गया है निश्चयनय मे उन सभी का निषेध किया गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र नेति के स्थानापन्न नास्ति का प्रयोग करते हैं और [illegible] कहते हैं कि मैं तो केवल शुद्ध चिद्घन तेजो निधि हूं।

"सर्वतः स्वरसनिर्भरभाव, चेतये स्वयमह स्वमिहैक
नास्ति नास्ति मम कश्चनमोह शुद्धचिद्घन महोनिधिरस्मि ॥३०॥

यों हम देखते हैं कि निश्चय नय से आत्मा का जो स्वरूप है उसका वर्णन निषेधात्मक शब्दों में ही किया गया है। जैनागमो मे शुद्ध आत्मा का जो वर्णन है वह [illegible] व्यवहारनय का वाच्य है किन्तु समयसार अध्यात्म प्रधान [illegible] निश्चयनय को मुख्यता देता है। अत: व्यवहार नय से शुद्ध आत्मा के बारे [illegible] है निश्चयनय उसका निषेध करता है। यहाँ तक कि शुद्ध निरंजन, [illegible] समयसार ने उसमें ज्ञान दर्शन का भी निषेध किया [illegible] सम्बन्ध है।

"भेद विज्ञानतः सिद्धा सिद्धा ये किल केचन ।
तस्यैवाभावतो वद्धा-वद्धा ये किल केचन ॥"

जो ससार से मुक्त हुए हैं वे भेद विज्ञान से ही मुक्त हुए है और जो ससार के बधन मे हैं वे भेद विज्ञान के अभाव से ही बन्धन मे है ।

सार यह है कि वेदान्त जहाँ ब्रह्म की अद्वैतता स्वीकार कर अभेदवाद को प्रोत्साहन देता है वहाँ समयसार ब्रह्म और जगत् की द्वैतता को स्वीकार भेदभाव को प्रोत्साहन देता है । वेदान्त भेद से अभेद की ओर समयसार अभेद से भेद की ओर ले जाता है ।

वेदान्त जगत् की चराचर सत्ता को व्यावहारिक कहता है समयसार उसे पारमार्थिक कहता है ।

वेदान्त माया को ब्रह्म की शक्ति कहता है साथ ही उसे सत् असत् दोनो से विलक्षण अनिर्वचनीय मानता है । समयसार ऐसी किसी शक्ति को स्वीकार नही करता ।

वेदान्त एक ही आत्मा को सर्वव्यापक मानता है । समयसार व्यक्तिश आत्माओ की अनन्तता को परमार्थ भूत मानता है । अनत ज्ञान की अपेक्षा प्रत्येक आत्मा व्यापक हैं व्यक्ति प्रदेशो की अपेक्षा वह परिच्छिन्न है ।

वेदान्त मुक्त होने पर उसी निर्विकल्प चेतन सत्ता रूप ब्रह्म मे जीव का मिल जाना मानता है ।

समयसार मुक्त अवस्था मे जीव का ब्रह्म होना तो मानता है पर वह किसी मे मिलकर अपना अस्तित्व नही खोता प्रत्युत स्वतन्त्र अस्तित्व लेकर अनन्त काल तक रहता है जैसा कि कुन्दकुन्द ने अपने मगलाचरण 'वदित्तु सव्व सिद्धे' कहकर अनन्त मुक्तात्माओं के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार किया है ।

वेदान्त मे ब्रह्म को जगत् की उत्पत्ति का निमित्त और उपादान कारण माना है ।

समयसार मे इस प्रकार की कोई उत्पत्ति स्वीकार नही की प्रत्युत उसका निषेध किया है । सर्व विशुद्ध ज्ञानाधिकार मे जीव के कर्तृत्व का निषेध करते हुए कुन्दकुन्द स्वामी लिखते हैं जिस प्रकार लोक मे विष्णु को सब जीवो का कर्ता माना जाता है उसी प्रकार यदि श्रमण भी षट्काय के जीवो का आत्मा को कर्ता मानें तो [illegible] रहेगा ।

(पुरुष) का पृथक ज्ञान करना भेद विज्ञान है, इस भेद विज्ञान से पुरुष मुक्त या सिद्ध होता है।[1]

जैनदर्शन मे कर्मो का बडा वैज्ञानिक और विस्तृत विवेचन मिलता है। इन कर्मों को मूल मे आठ प्रकार का लिखा है। पर वस्तुत. ये कर्म नही प्रकृतियाँ है। जब कभी इनकी चर्चा होती है तो कहा जाता है कि मूल प्रकृतियाँ आठ है और उत्तर प्रकृतियाँ १४८ हैं। गोम्मटसार कर्मकाण्ड मे इन प्रकृतियो के बन्ध उदय सत्व को लेकर विस्तृत विवेचन किया गया है। वहाँ मगलाचरण मे इन्हे कर्म शब्द से नही किन्तु प्रकृति शब्द से याद किया है। जैसा कि 'पयडिसमुक्कित्तण वोच्छं' इस गद्यांश से स्पष्ट है, अर्थात् मैं प्रकृति समुत्कीर्तन कहूँगा। दिगम्बर जैनो मे जो षट्खण्डागम की उत्पत्ति बतलाई है जिन पर धवला, महाधवला, जयधवला आदि विस्तृत टीकाएँ लिखी गई है वह भी अग्रायणी पूर्वके पचम वस्तु अधिकार के अन्तर्गत महाप्रकृति नामक प्राभृत से बतलाई है अर्थात् वहाँ भी प्रकृति शब्द से ही नामकरण है कर्म से नही।

कर्मबध चार प्रकार कहा है पर किसी भी बध के साथ कर्म शब्द का उल्लेख नही है। बध के लक्षण मे यद्यपि आत्मा के साथ कर्म के सम्बन्ध को प्रधानता दी है।[2] लेकिन भेद करते समय प्रकृति शब्द का ही उल्लेख किया है कर्म का नही।[3]

कर्मकाण्ड मे मगल गाथा के बाद प्रकृति शब्द का अर्थ किया है। वहाँ प्रकृति का वाच्यार्थ शील, स्वभाव किया है तथा प्रकृति और जीव के अनादि सबध की चर्चा करते हुए प्रकृति का अभिप्राय 'अग' अर्थात् देह से ग्रहण किया है।[4] कर्म का उल्लेख वहाँ भी नही है।

इस प्रकार जैनदर्शन सांख्य की तरह प्रकृतिवादी दर्शन है। और मूल मे पुरुष तथा प्रकृति की तरह जीव और अजीव दो ही तत्व स्वीकार करता है। इन्ही के मेल से आगे आस्रव आदि सात तत्त्वो का निर्माण होता है जैसे कि प्रकृति पुरुष के मेल से महदादि विकारों को उत्पन्न करती है। जीव का पुरुष शब्द से जैन दर्शन मे भी उल्लेख किया है। आचार्य अमृतचन्द्र के 'पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय' ग्रन्थ का अर्थ ही यह है जिसमें [illegible] के प्रयोजन की सिद्धि का उपाय बतलाया गया है। वे लिखते है—'अस्ति पुरुषश्चिदात्मा' अर्थात् पुरुष चैतन्य स्वरूप है। समयसार की आत्मख्याति टीका मे प्रारम्भ मे भिन्न तेज वाले पुरुष को हृदय सरोवर मे देखने की प्रेरणा की गई

---

1. भेदविज्ञानतः सिद्धा सिद्धा ये किल केचन तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन । [illegible] ॥
2. [illegible] पुद्गलानादत्ते स बंधः ॥ त० सि० अ० ८ ॥ सकषायत्वा- ज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः ॥ त० सू० ८ ॥
3. प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः ।
4. पयडी सील सहावो जीवंगाणं अणाई संबंधो ॥ कर्मकांड ॥२॥

इस प्रकार दोनों की मान्यताओं और सैद्धान्तिक तथ्यों में अन्तर होते हुए भी समयसार और वेदान्त की आध्यात्मिक व्याख्याओं और चर्चाओं में विशेष अन्तर नहीं मालूम पड़ता। भाषा के आवरण और शास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों को हटाकर समयसार और वेदान्त के प्रतिपाद्य विषय को यदि पढ़ा जाय तो समयसार में वेदान्त के दर्शन होंगे और वेदान्त में समयसार के दर्शन होंगे।

ऐसा प्रतीत होता है इन संस्कृतियों का कभी मूल उद्गम एक रहा होगा किन्तु जैसे-जैसे सूत्र भाष्य वार्तिक टीका और व्याख्याओं के माध्यम से विभिन्न आचार्यों द्वारा इन्हें पल्लवित पुष्पित किया गया वैसे-वैसे उन मूल मान्यताओं में अन्तर आता गया है। औषधियों में पुट और भावनाओं के अनन्तर होने वाले परिवर्तन की तरह उनमें मौलिकता नहीं रही इस परिवर्तन ने ही पट दर्शन का रूप ले लिया। विक्रम की प्रथम शताब्दि के आचार्य समन्तभद्र ने भी इस तथ्य का उद्घाटन किया है।[२] इस सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखने को है। यहाँ केवल समयसार और वेदान्त के सम्बन्ध में एक दृष्टि दी गई है जो विद्वानों को विचारणीय है।

समयसार और सांख्य सिद्धान्त

सांख्य दर्शन सभी दर्शनों में प्राचीन है। इसके प्रवर्तक कपिलाचार्य कौन थे इसका अभी तक कोई अनुसंधान नहीं हो सका। उनके बाद आसुरि मुनि और पंचशिखाचार्य जैसे समर्थ सांख्य दर्शन के आचार्यों का भी इतिवृत्त नहीं है। यहाँ तक कि ईश्वरकृष्ण जिनकी रचना सांख्य कारिका नाम से उपलब्ध है वे भी अत्यन्त प्राचीन मालूम होते हैं।

इस अत्यन्त प्राचीन दर्शन को जब हम जैन दर्शन की तुलना में देखते हैं तो दोनों में अन्य दर्शनों की अपेक्षा अत्यधिक साम्य प्रतीत होता है। और कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी मौलिक मान्यता में कोई अन्तर नहीं है। उदाहरणार्थ सांख्य शब्द के अर्थ पर ध्यान देना चाहिए। संख्या से सांख्य शब्द की निष्पत्ति हुई है सं का अर्थ है सम्यक और ख्या से अभिप्राय ख्याति का है। ख्याति पहिचान विवेक ये सब एकार्थवाचक शब्द हैं। तब संख्या का अर्थ होता है सम्यक ख्याति अर्थात् समीचीन विवेक। सांख्य शास्त्रों में भी संख्या का यही अर्थ किया है—संख्या सम्यक विवेकेन आत्मकथनम्। यह समीचीन विवेक और जैनों का भेदविज्ञान एकार्थक है सांख्य के अनुसार प्रकृति और पुरुष में विवेक करना ही संख्या या सम्यक-ख्याति है। इस विवेक के होते ही पुरुष का निर्वाण हो जाता है। जैनों के अनुसार द्रव्य कर्म भाव कर्म और नोकर्म जो प्रकृति के ही रूप हैं उनसे आत्मा

---

२ कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनाशयो वा।
त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मी प्रभुत्वशक्तेरपवादहेतुः॥

इनसे आत्मा की योगशक्ति प्रभावित होती है। और उससे आत्म प्रदेशो परिस्पद होता है। इसका फल यह होता है कि प्रति समय अत्यत सूक्ष्म पुद्गल वर्णणाएँ आत्मा से सवध करती हैं। ये अनत हैं फिर भी इनका अपना जो फल जीव को लेकर प्रकट होता है उसे जातीयता के आधार पर आठ जगह वर्गीकृत किया है और इन आठों को उनके प्रभेदो मे बांटकर उनके १४८ भेद किये हैं। वे मूल आठ भेद मूल प्रकृतियाँ कहलाती हैं और उत्तर भेद उत्तर प्रकृतियां कहलाती हैं। इन मूल अ-ठ प्रकृतियो को आठ कर्म भी कहा जाता है और १४८ प्रकृतियो को कर्मो के १४८ उत्तर भेद भी कहा जाता है। इन प्रकृतियो को कर्म कहने का कारण यह हैं ये कर्म (ऐक्शन) के परिणाम हैं। अर्थात् मानसिक, वाचिक और कायिक कर्म करने से इनका आत्मा (पुरुष) के साथ सवध होता है अत कारण मे कार्य का उपचार कर प्रकृति को भी कर्म की सज्ञा दी गई है।

यह ठीक है कि प्रकृति स्वभाव होने से किसी का कार्य नही हो सकता। जैन दर्शन मे प्रकृति को स्वभाव शब्द से ही उल्लेख किया है। लेकिन उसकाप्रकृतिपन इस अर्थ मे है कि उसका किसी खास समय मे जीव (पुरुष) के साथ सम्बन्ध नही हुआ। अर्थात् ऐसा नही है कि जीव के साथ किसी समय प्रकृति का सवध नही था बाद मे हुआ। यह अनादि काल मे है। जो वस्तु अनादि है उसमे कारण की प्रधानता नही होती है और जो कारण विहीन है वह प्रकृति या स्वभाव ही कहा जाता है।

निष्कर्ष यह है कि जैन दर्शन मे प्रकृति को कर्म शब्द से भी उल्लेख किया है। यह कर्म तीन प्रकार के हैं १. भाव कर्म, २. द्रव्य कर्म, ३. नोकर्म। यह तीनो ही प्रकार के कर्म जैन दर्शन मे प्रकृति शब्द के वाच्य हैं। इसकी साख्य दर्शन की प्रकृति के साथ इस प्रकार तुलना की जा सकती है। साख्य मत मे प्रकृति को प्रधान और अव्यक्त शब्द से उल्लिखित किया है। तथा प्रकृति के महददि कार्यों को व्यक्त शब्द से उल्लिखित किया है। जैनो के भाव कर्म और द्रव्य कर्मो मे भी यही अन्तर है। राग, द्वेष, मोह ये जीव के भावात्मक कर्म हैं अत जीव की तरह ही अव्यक्त हैं तथा इनसे उत्पन्न जो पौद्गलिक नो कर्म हैं वे पुद्गल की तरह व्यक्त हैं अर्थात् मूर्तिमान् हैं। [illegible] द्रव्य कर्म इन्द्रिय प्रत्यक्ष नही है फिर भी रूप, रस, गन्ध स्पर्श वाले तो हैं ही अत [illegible] भावो की तरह अव्यक्त नही कहा जाता है।

साख्यो मे एक सूक्ष्म शरीर या लिंग शरीर की मान्यता है जो प्रकृति का ही कार्य है। यह सूक्ष्म शरीर प्रत्येक पुरुष के साथ रहता है इसकी अबाध गति है, मोक्ष [illegible] तक रहता है, उपभोगरहित है तथा ससार में परिभ्रमण करता है।[1]

---

१ पूर्वोत्पन्नमसक्त, नियतं, महदादिसूक्ष्म पर्यन्तम्।
ससरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥४०॥ सां० का०
पूर्वोत्पन्नं [illegible] प्रतिपुरुषमेकैक [illegible] पुरुषादिनम्, असक्तम्—हि
[illegible] नस्यपिता-
[illegible] —इत्यादि

है। जैसा कि इस वाक्य से स्पष्ट है 'पश्य सन्मासमेक, दुग्ध सरसि पुंस पुद्गलाद्भिन्नधाम्न'

यों प्रकृति और पुरुष जैन दर्शन के प्राचीनतम सांस्कृतिक शब्द हैं जिन्हें केवल सांख्य दर्शन से ही सम्बन्धित माना जाता है।

प्रकृति शब्द की पारिभाषिक तुलना भी जैन दर्शन से है। सांख्य दर्शन में प्रकृति को त्रिगुणात्मक माना है। ये तीन गुण सत्व गुण, रजोगुण और तमोगुण हैं। इनमें से प्रत्येक को क्रमशः प्रीति, अप्रीति और विषाद स्वरूप माना है।[1] प्रीति का अर्थ सुख, अप्रीति का अर्थ दुःख और विषाद का अर्थ मोह स्वीकार किया है। जैन दर्शन में राग, द्वेष, मोह को संसार का कारण माना है और इन्हें भाव कर्म संज्ञा दी है। आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में लिखा है कि मोह और क्षोभ (राग द्वेष) से रहित आत्मा का परिणाम ही साम्यभाव है।[2] राग से सुख, द्वेष से दुःख और मोह से विषाद होता है। अतः जैनों के राग, द्वेष, मोह और सांख्यों के सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण में कोई अन्तर नहीं है। सांख्य दर्शन में जिसे प्रकृति के धर्म कहा है सो जैनदर्शन में भी उसे प्रकृति कारणक ही स्वीकार किया है। इसका उल्लेख आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में किया है। वे लिखते हैं कि नियति के द्वारा उदय प्राप्त कर्मांशों में जो मोही, रागी, द्वेषी होता है वह बन्ध का अनुभव करता है।[3] यह नियति शब्द का अर्थ प्रकृति ही है। मम्मट ने काव्य प्रकाश के मंगलाचरण में 'नियति' शब्द का प्रयोग प्रकृति अर्थ में ही किया है।[4]

इस प्रकार जैनदर्शन में प्रकृति की वही परिभाषा है जो सांख्य दर्शन में है। केवल संज्ञाओं में साधारण भेद है। अर्थात् यहाँ सत्व के स्थान पर राग, रज के स्थान पर द्वेष और तम के स्थान पर मोह है, इनके अर्थ दोनों जगह एक हैं।

जैन दर्शन में प्रकृति और कर्म एकार्थ वाचक शब्द हैं जबकि सांख्य में सर्वथा भिन्न हैं। कर्म की परिभाषा है—क्रियते इति कर्म अर्थात् जो किया जाय वह कर्म है। प्रकृति की व्याख्या करते हैं—स्वभाव है। जो किया जाय वह स्वभाव हो जाता है। अतः कर्म और प्रकृति में अन्तर होते हुए भी इनके समानार्थक होने में भिन्न कारण हैं। हम जो कर्म (व्यवहार) करते हैं वह राग, द्वेष, मोह के आधीन होकर मन, वचन, काय के माध्यम से करते हैं। इन्हें क्रम से मानसिक, वाचिक और कायिक कर्म कहते हैं।

---

१ प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥१२॥ सां० का०

२ मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥७॥ प्र० सा०

३ उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया।
तेसु हि मुहिदो रत्तो दुट्ठो वा बंधमणुभवदि ॥४३॥ प्र० सा०

४ नियतिकृतनियमरहिता

जया विमुञ्चए चेया कम्मफलमणतय
तया विमुत्तो हवइ जाणओ पासओ मुणी ॥ ३१५ ॥

जब तक यह आत्मा प्रकृति की हेतुता नही छोड़ता तब तक वह अज्ञानी, मिथ्या दृष्टि और असयत है और जब अनन्त कर्मफल (प्रकृति) को छोड़ देता है तब ज्ञाता दृष्टा और वन्ध मे मुक्त हो जाता है।

साख्य दर्शन पुरुष मे वन्ध और मोक्ष अवस्था अवास्तविक मानता है। और इस कल्पना को वह अविवेक का रूप देता है—

"नैकान्ततो वन्धमोक्षौ पुरुषस्याविवेकादृते ॥ ७१ ॥ अ० ३ सा० दर्शन

समयसार भी यही कहता है। उसका आशय है कि वन्ध मोक्ष केवल नयो का । चेतन पुरुष इस पक्षपात से रहित है—

सबद्ध जीवे एवतु जाण णय पक्ख,
पक्खातिक्क तो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥ १४२ ॥ स० सा०

कर्म जीव मे बद्ध है अथवा अबद्ध है यह नय पक्ष है जो पक्ष स अतिक्रान्त है वह समयसार है।

चेतन पुरुष शुद्ध है वन्ध, मोक्ष और ससरण यह प्रकृति का ही कार्य है इस सम्बन्ध मे भी समयसार और साख्य दर्शन दोनो एक मत है। दोनो के उल्लेख निम्न प्रकार है—

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा, न मुच्यते नापि ससरति कश्चित्
ससरति, बध्यते, मुच्यते च नानाश्रया प्रकृति ॥ ६२ ॥ सा० का०

पुरुष न बधता है, न छूटता है, न ससरण करता है प्रकृति ही नाना रूप धारण करके बधती, छूटती और ससरण करती है—

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये
वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्य
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध-
चैतन्यधातुमयमूर्तिरय च जीव. ॥ स. सा क ४४ ॥

इस अनादि अविवेक रूप नाट्य मे वर्णादिमान् यह पुद्गल ही नृत्य कर रहा है, और यह जीव तो रागादि पुद्गल विकारो से विपरीत शुद्ध चैतन्य धातुमय मूर्ति है।

यह सूक्ष्म शरीर जैनों का कार्माण शरीर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। तत्वार्थ सूत्र में प्रायः सभी उक्त विशेषण कार्माण शरीर में मिल जाते हैं।[1]

स्थूल शरीर को मातृपितृज लिखा है जो जैनों में नोकर्म कहा जाता है।

सांख्यों में पुरुष बहुत्व की मान्यता है[2] अर्थात् आत्माएँ एक नहीं अनेक हैं जबकि नैयायिक वेदान्ती वगैरह आत्मा को विभु और सर्वव्यापक मानते हैं। जैनों ने भी आत्मा को सर्वगत एक न मानकर प्रति शरीर भिन्न भिन्न ही माना है। अतः पुरुष बहुत्व में भी दोनों की समान मान्यता है।

सांख्यों में जो दो भेद किये जाते हैं निरीश्वरवादी और ईश्वरवादी। निरीश्वरवादी को सांख्य और ईश्वरवादी को योग कहा जाता है। वस्तुतः ये दो भेद नहीं हैं किन्तु एक ही सांख्य द्वारा प्रतिपादित दर्शन और आचार सम्बन्धी कथन है। ईश्वर को सृष्टि कर्ता न मानना निरीश्वरवादिता नहीं है। निरीश्वरवादिता तो तब कहलाती जब ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं किया जाय। यह आवश्यक नहीं है कि सृष्टि कर्तृत्व से ईश्वर का अस्तित्व बंधा हो।

योगदर्शन (ईश्वरवादी) ने ईश्वर का लक्षण लिखा है 'कर्मक्लेशविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'[3] ईश्वर की इस मान्यता का खंडन निरीश्वरवादी सांख्य ने कहीं नहीं किया। और न इस मान्यता में ईश्वर के कर्तृत्ववाद की झलक है। इसी प्रकार सांख्यदर्शन द्वारा प्रतिपादित प्रकृति को ही बंध मोक्ष कारण की मान्यता का खण्डन योगदर्शन ने भी नहीं किया है और न इससे योग प्रतिपादित ईश्वर की मान्यता का खण्डन होता है। प्रत्युत पुरुष विशेष कहकर प्रकृति से विमुक्त पुरुष का ही ईश्वर की मान्यता सिद्ध होती है। अतः दोनों एक हैं। दोनों ही ईश्वर को सृष्टिकर्ता न मानने की अपेक्षा निरीश्वरवादी हैं। और दोनों ही कर्म क्लेश विपाकाशय से रहित ईश्वर की सत्ता मानने की अपेक्षा ईश्वरवादी हैं। संभवतः इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर गीता में लिखा है कि सांख्य और योग को मूढ़ लोग ही पृथक्-पृथक् मानते हैं विद्वान् नहीं[4]। सांख्य के द्वारा जो पद प्राप्त किया जाता है वह योग के द्वारा भी प्राप्त किया जाता है इसलिए जो सांख्य और योग को एक देखता है वही सब कुछ देखता है[5]।

---

१ सावयव, अप्रतिघातं निरुपभोगमन्त्यम् ॥ त० सू० अ० २

२ जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥१८॥ सां० का०

३ यो० द० १ सूत्र १ पा०

४ सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः गीता०

५ यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते। एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति गीता०

हैं। स्याद्वाद का अर्थ ही यह है कि किसी अपेक्षा से वस्तु कथचित् इस प्रकार है। कुन्दकुन्द ने सर्वत्र जीव को अकर्ता माना है लेकिन यह मान्यता उनकी निश्चय नयाश्रित हैं व्यवहार नय से वे उसे कथचित् कर्त्ता भी स्वीकार करते हैं[1]। इसके विपरीत जो एकान्त मे (सर्वथा) आत्मा को अकर्ता ही मानते है आचार्य उन्हे सांख्य मतानुयायी श्रमण कहते हैं[2] और उनका खण्डन करते हैं। उनका कहना है कि यदि जीव को हम सर्वथा अकर्ता मानले और प्रकृति को ही कर्त्ता मान ले तो किसी को अपराधी या व्यभिचारी नही कहा जा सकेगा। क्योकि अपराध या व्यभिचार तो बुद्धि तत्व का तामस रूप है जो प्रकृति का ही विकार है अत. ये सब प्रकृतिकृत नही है तब जीव (पुरुष) व्यभिचारी नही हुआ।

इसी प्रकार की ऐकान्तिक मान्यताओ को लेकर ही समयसार मे साख्य दर्शन का खण्डन है।

जैन दर्शन समन्वयात्मक धर्म है और विभिन्न मतो मे पारस्परिक विरोध का मथन करता है[1]। यह विरोध का मथन स्याद्वाद के आधार पर ही किया जाता है। साख्य दर्शन की मान्ततायें जैन दर्शन से मिलती हुई भी कही-कही वे इतनी दूर हो गई है कि जैन दर्शन से उनका तालमेल ही नही बैठता और सदेह होता है कि यह मान्यता उसकी मौलिक है भी या नही। उदाहरण के लिये शब्द तन्मात्रा से आकाश, स्पर्श तन्मात्रा से वायु, रूप तन्मात्रा से तेज, रस तन्मात्रा से जल और गन्ध तन्मात्रा से पृथ्वी की उत्पत्ति साख्य मानता है जैन दर्शन मे जिसकी गन्ध भी नही है। साख्य दर्शन मे यह तत्त्व कहाँ से आया यहाँ पर विचार करने का यह अवसर नही है। इसलिये इस प्रकरण को आगे न बढ़ाकर निष्कर्ष रूप मे इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि जैन और साख्य दोनो ही अत्यन्त प्राचीन दर्शन है, दोनो ही प्रकृतिवादी है, सृष्टि-कर्तृत्व के बारे मे दोनो ही निरीश्वर वादी है, दोनो ही नाना आत्मवादी है, दोनो ने विवेक ख्याति या भेदविज्ञान को मुक्ति का प्रधान कारण माना है। दोनो ही जड प्रकृति और चेतन पुरुष का अनादि सम्बन्ध मानते हैं दोनो ही सत्कार्यवादी है ससार को प्रकृति पुरुष के सयोग का फल दोनो ही मानते है। जहाँ तक पुरुष के अकर्तृत्व और निर्लिप्तता का प्रश्न है जैन दर्शन का वह अध्यात्म पक्ष है उसे वह स्वीकार करता है। समयसार मे आत्मा की इस अकर्तृता और निर्लेपता के सिद्धान्त को विस्तृत रूप मे

ज्ञाननिष्ठा वदन्त्येके मोक्षशास्त्रविदो जना
कर्मनिष्टा तथैवान्ये यतय सूक्ष्मदर्शिन ॥३९॥
प्रहायोभय मच्यैव ज्ञान कर्म च केवलम्
तृतीयेय समाख्याता निष्ठा तेन महात्मना ॥४०॥
शा प अ ३२०

मोक्ष के ज्ञाता महात्माओ ने तीन प्रकार की निष्ठा बताई है—(१) कोई मोक्षशास्त्रवित् सब कर्मो को छोड कर लोकोत्तर ज्ञान मे निष्ठा रखने को ज्ञान निष्ठा कहते है(२) उसी प्रकार कोई ज्ञान को छोडकर कर्म मे निष्ठा रखने को सूक्ष्मदर्शी लोग कर्मनिष्ठा कहते हैं, किन्तु केवल ज्ञान और केवल कर्म इन दो निष्ठाओ को छोड कर यह तीसरी निष्ठा उस महात्मा मयूख शिख ने बताई है जिसका मैं आचरण कर रहा हू।

यह सर्वविदित है कि राजा जनक निरासक्तिपूर्वक राज्य का पालन करते थे जिस तरह भरत के विषय मे कहा जाता है कि 'भरतजी घर मे वैरागी'। वे सुलभा को अपनी यह स्थिति समझा रहे हैं और कहना चाहते है कि ज्ञान और कर्म करने मे कोई विरोध नही है अर्थात् कर्म करता हुआ भी मनुष्य ज्ञानी रह सकता है। इसलिए मैं जो मुक्त की तरह आचरण कर रहा हू वह केवल ज्ञान और केवल कर्मनिष्ठा से भिन्न मोक्ष की प्राप्ती की तीसरी ही निष्ठा है।

समयसार मे भी कर्म और ज्ञान की चर्चा की है और मुक्ति को ज्ञान की अनिवार्य आवश्यकता स्वीकार करते हुए कर्म का सर्वथा निषेध नही किया प्रत्युत ज्ञान और कर्म मे मोक्ष प्राप्ति के लिए परस्पर निरपेक्षता को बुरा बतला कर दोनो के समन्वय पर जोर दिया है। अमृतचन्द्र आचार्य अपने समयसार कलश मे लिखते है—

मग्ना कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञान न जानन्ति ये
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमा
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सतत ज्ञान भवन्त स्वय
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वश यान्ति प्रमादस्य च

समझाया है। उसका कहना है कि व्यावहारिक दृष्टि में भले ही यह कहा जाय कि जीव नाना योनियों में संसरण करता है कर्मबद्ध है अथवा कर्मों से मुक्त है दूसरे को सुखी दुःखी करता है या दूसरे इसे सुखी दुःखी करते हैं यह कर्म नो कर्म का कर्त्ता है घट पटादि का निर्माण करता है लेकिन निश्चय दृष्टि से यह सब औपचारिक कथन है। वस्तुतः यह सदा ही कर्म नोकर्म से अबद्धस्पृष्ट है अनेक योनियों में संसरण करना पुद्गल का काम है आत्मा तो टंकोत्कीर्ण शुद्ध चैतन्यमय है। यहाँ तक कि आत्मा में रागद्वेष आदि जो विकार उत्पन्न होते हैं वे भी पौद्गलिक हैं और आत्मा उनसे भिन्न है। स्फटिकमणि जैसे अन्य रक्त आदि द्रव्यों से लाल हो जाती है स्वतः वह लाल नहीं है वैसे ही आत्मा में ये रागादि पुद्गल कर्मों के निमित्त से होते हैं स्वतः आत्मा में रागादि नहीं है। यह आत्मा श्रावक साधु आदि देहमयी लिंगों से भी सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार शुद्धनय की प्रधानता से आत्मा को त्रैकालिक शुद्ध निर्लेप और निःसंग बताया है। आत्मा के कर्तृत्व का पूर्णतया निषेध किया है। कुन्दकुन्दाचार्य ने आत्मा को एक (निःसंग) और विभक्त (प्रकृति से पृथक्) बताने के लिए ही समयसार की रचना की है। सांख्य की भी यही मान्यता रही है। अतः समयसार में जो कुछ प्रतिपादित किया गया है उसमें सांख्य दर्शन से बहुत कुछ साम्य है। जहाँ मतभेद है उसका उल्लेख भी समयसार में यत्र तत्र किया है।

समयसार तथा अन्य दर्शन

समयसार तथा विभिन्न दर्शनों को लेकर अब तक बहुत कुछ लिखा जा चुका है। यहाँ अब संक्षेप में समयसार द्वारा प्रतिपादित विषय तथा अन्य दर्शनों का तुलनात्मक विवेचना की जायगी।

महाभारत का शान्ति पर्व तत्त्वज्ञान तथा आध्यात्मिक प्रबोध से भरा पड़ा है। गीता का निर्माण तो उसकी रचना से हुआ ही है उसके अतिरिक्त और भी ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय हैं जिन पर गीता जैसे अनेक धर्म ग्रन्थों का निर्माण हो सकता है। यहाँ हम उन्हीं उद्धरणों का उल्लेख करेंगे जिनकी चर्चा समयसार में भी की गई है।

शान्ति पर्व में कोई सुलभा तपस्विनी जनक के त्याग और मोक्ष धर्म में निष्ठा की प्रशंसा सुन कर उनके दर्शन के लिए योग बल से अपना सुन्दर रूप बनाकर आई है और राजा जनक से मोक्ष धर्म की जिज्ञासा प्रकट की है। राजा जनक ने भरत की भाँति स्फुरणशील का त्रिविध स्थान छोड़ इस प्रकार मोक्षधर्म का व्याख्यान किया है—

> सा र हि त्रिविधा निष्ठा दृष्टा मोक्षविदुत्तमैः
>
> ज्ञानं लोकोत्तरं यच्च सर्वत्यागश्च कर्मणाम् ॥ ८॥

का कारण कहा है वहाँ आचार्य कुन्दकुन्द ने भी इन लिगो का आग्रह न कर दर्शन, ज्ञान-चारित्र के सेवन पर वल दिया है। उनका कहना है कि व्यवहारनय से दोनो ही मुनि और गृहस्थ लिग मोक्षमार्ग मे कारण है किन्तु निश्चय नय से मोक्षमार्ग मे कोई लिग कारण नही है।

शिवधर्मोत्तर मे ज्ञान की महिमा का वर्णन करते हुए लिखा है—

मन्त्रौपधवलैर्यद्वज्जीर्यते भक्षित विपम्
तद्वत्सर्वाणि पापानि जीर्यन्ते ज्ञानिन.क्षणात्

जिम प्रकार खाया हुआ विप मन्त्र औपध के वल से पच जाता है उमी प्रकार ज्ञानी के क्षण भर मे सभी पाप जीर्ण हो जाते है।

ममयसार मे भी ज्ञान की महिमा और सामर्थ्य का उल्लेख करते हुए यही दृष्टान्त दिया है—

जय विसमुवभुज्जतो विज्जा पुरिसो ण मरणमुवयादि
पोग्गल कम्मम्मुदय तह भुजदि णेव वज्झए णाणी ॥१९५॥ स सा

जिम प्रकार विप का उपभोग करने वाला गारुड विद्या सयुक्त पुरुष मृत्यु को प्राप्त नही होता उमी प्रकार पोद्गलिक कर्मों का फल भोगता हुआ भी ज्ञानी कर्मों से नही बधता।

महाभारत शान्ति पर्व मे मोक्षधर्म का व्याख्यान करते हुए लिखा है—

सागोपागानपि यदि यश्च वेदानधीयते
वेदवेद्य न जानीते वेदभारवहो हि स । पर्व ३ श्लोक ५०

वेद और उसके सम्पूर्ण अगोपाग को पढने वाला वेद विहित ब्रह्म को नही जानता तो वह वेदो के भार को ही ढोता है—वेदज्ञ नही है।

समयसार मे भी अग और पूर्व सहित आगम ज्ञाता को भी विना आत्मज्ञान के निरर्थक बताया है।

वस्तुगत सभी धर्मों के लिए है।

जैनागम वस्तुवर्णन की दृष्टि से चार भागो मे विभक्त है जिन्हे क्रमश प्रथमानुयोग करणानुयोग चरणानुयोग, और द्रव्यानुयोग कहा जाता है। पहले मे इतिहास है, दूसरे मे आत्मा की दशाएँ है, तीसरे मे क्रियात्मक मोक्ष के लिए आचरण है। चौथे मे शुद्ध अशुद्ध द्रव्यो का कथन है।[1] चौथा द्रव्यानुयोग आगम यदि अध्यात्म प्रधान है तो उसमे शुद्ध आत्मा का वर्णन ही मिलेगा उसकी अशुद्धता का कथन गौण रूप मे चर्चित रहेगा। समयसार इसी प्रकार का अध्यात्म प्रधान द्रव्यानुयोग का ग्रन्थ है जिसमे शुद्ध आत्मा के स्वरूप की व्याख्या है और आत्मा की अशुद्ध दशा को औपचारिक या अभूतार्थ कहा है। यह औपचारिकता या अभूतार्थता एक दृष्टि है जिसे व्यवहार नय के नाम से आचार्य ने उल्लेखित किया है और शुद्ध आत्म दृष्टि या निश्चय नय के नाम से लिखा है।

ऊपर जिन चार अनुयोगो का उल्लेख किया गया है वे सभी जिनेन्द्रप्रति प्रतिपादित है। ऋषभनाथ से लेकर महावीर पर्यन्त चौवीसो तीर्थकरो ने उनका उपदेश दिया है अत वे सभी समान रूप से प्रमाणित है। फिर भी करणानुयोग द्वारा प्रतिपादित आत्मा की विभिन्न दशाओ का निराकरण[2] आत्मा की शुद्धता को समयसार द्वारा प्रतिपादित करना किसी नय दृष्टि का ही परिणाम हो सकता है। सर्वथा एकान्त कथन नहीं हो सकता। आचार्य कुन्द-कुन्द जैसे युग प्रतिष्ठापक महापुरुष जिनका पुण्य स्मरण जैन परम्परा मे महावीर और उनके प्रधान गणधर गौतम के बाद ही किया जाता है गौतम द्वारा ग्रथित एक अनुयोग (करणानुयोग) को मिथ्या कहे और द्रव्यानुयोग को ही सत्य बतावें यह कैसे सभव हो सकता है। अत समयसार का अध्ययन करते समय कुन्दकुन्द की विवक्षा को समझना चाहिए। वस्तुत कुन्द कुन्द आत्मा की अशुद्धता का निषेध नहीं करते और न शुद्धता का प्रतिपादन ही करते है वे तो उस अनिर्वचनीय तत्त्व की ओर सकेत करते है जो अशुद्धता और [illegible] केवल स्वसंवेद्य या स्वानुभव गम्य है। आत्मा को अशुद्ध मा[illegible] [illegible] कथन है। इनमे आत्मा की वास्तविकता नहीं प्रतीत होती [illegible] होती है तब नय दृष्टि सर्वथा सामने नहीं रहती।[3] [illegible] जा सकता है जब उसकी अशुद्धता को भी वास्तविक मा[illegible] [illegible] का उल्लेख भी कैसे किया जा सकता है। [illegible] अनिर्वचनीय तत्त्व को समझाने के लिए [illegible]

---

१ [illegible] ३, ५, ६, ७ ८, ९ इत्यादि।

२ [illegible]

३ [illegible]

वस्तु मे खण्ड कल्पना या भेद करना व्यवहार है। जैनो की स्याद्वाद दृष्टि मे पदार्थ को कथचित् भेदाभेदात्मक नित्यानित्यात्मक मान कर एक ही वस्तु मे दो विरोधी धर्मो का मैत्रीभाव से रहना स्वीकार किया है। जीव न कभी मरता है न कभी उत्पन्न होता है वह नित्य, सनातन है यह निश्चय दृष्टि का कथन है। जीव मरता है, जीता है, चतुर्गति तथा चौरासी लाख योनियो मे भ्रमण करता है यह व्यवहार नय का विषय है। जीव ससारी है यह पराश्रित कथन होने से व्यवहार दृष्टि है, जीव ससारी नही है त्रैकालिक शुद्ध है यह स्वाश्रित कथन होने से निश्चय दृष्टि है। इस प्रकार सर्वत्र ही निश्चय व्यवहार का विषय समझ लेना चाहिए। नयो के सामान्य विवेचन मे किसी भी नय को कही भी अप्रमाण या असत्य नही कहा है। ये ही नय जब परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा को छोड देते है तब मिथ्या या असत्य बन जाते है और जब सापेक्ष रहते है तब सम्यक् या सत्य बन जाते है।[1] इस दृष्टि से यदि देखे तो व्यवहार और निश्चय नय दोनो एक दूसरे से निरपेक्ष रहने पर मिथ्या है और सापेक्ष रहने पर दोनो ही सम्यक् है। अन्यथा पदार्थ भेदाभेदात्मक या नित्यानित्यात्मक कैसे बन सकता है जब कि भेद, अभेद और अनित्य तथा नित्य इन दो युगलो मे पहले २ भग क्रमश व्यवहार और दूसरे भग निश्चय नय के विषय है। अत हमे इन दोनो नयो का विश्लेषण कर इनकी ठीक स्थिति को समझना होगा।

आचार्य कुन्द कुन्द ने इन दोनो नयो के विषय मे एक गाथा समयसार मे निम्न प्रकार दी है—

> ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ
>
> भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवई जीवो ॥११॥ स मा.

अमृतचन्द्र के अनुसार इसका सरल अर्थ है—व्यवहार अभूतार्थ है और निश्चय भूतार्थ है। भूतार्थ का आश्रय लेने वाला जीव सम्यक्दृष्टि होता है।

[illegible] ने इसका सरल अर्थ इस प्रकार भी किया है—व्यवहार भूतार्थ और अभूतार्थ होता है। शुद्ध नय भी भूतार्थ और अभूतार्थ होता है उनमे भूतार्थ का [illegible] सम्यग्दृष्टि होता है।[2]

[illegible] के अर्थ मे सगति बैठाने के पूर्व यह जान लेना आव- [illegible] लिए असत्य या मिथ्या विशेषण का प्रयोग [illegible] का प्रयोग किया है। अन्यथा वे गाथा का इस

---

1 [illegible] मिथ्या, सापेक्षा वस्तु तेऽर्थ कृत् आ. म

2 [illegible] व्यवहार नय और असद्भूत व्यवहार नय इस [illegible]

[illegible] दो भेद किये है।

दो नयों का आधार लिया है। वे दो नय व्यवहार नय और निश्चय नय है। इनमें व्यवहार नय को गौण कर निश्चय नय को प्रधान रखा है। अतः जब वे निश्चय नय की अपेक्षा से आत्मतत्त्व का वर्णन करते हैं तो प्रतीत होता है कि व्यवहार नय को उन्होंने सर्वथा छोड़ दिया है लेकिन बात ऐसी नहीं है। अनादिकाल से इस जीव की संयोगी दृष्टि रही है अतः वह भ्रम से आत्मा तथा कर्म को एक मानता चला आ रहा है उस संयोगी दृष्टि को दूर कर असंयोगी दृष्टि लाना आचार्य का प्रधान लक्ष्य रहा है अतः आभास ऐसा होता है कि आचार्य व्यवहार दृष्टि का निषेध कर रहे हैं क्योंकि संयोगी दृष्टि व्यवहार नय का ही विषय है। लेकिन यह तो रोग का उपचार है। शीत ज्वर वाले को उष्ण औषधि दी जाती है इसका यह अर्थ नहीं कि कदा शीत औषधियों का प्रयोग सर्वथा निषिद्ध मानता है। जिसे उष्ण ज्वर है उसे शीत औषधि देना भी वह जानता है। निश्चय नय को आगे रखकर जो जड़वाद का समर्थन करते हैं समयसार में उनकी भी निन्दा की गई है।[1] अपने कथन में सतुलन रखने के लिए आचार्य कुन्दकुन्द ने व्यवहार नय का भी उपयोग किया है और व्यवहार नय के कथन को जिनेन्द्र प्रतिपादित कह कर उसकी प्रमाणिकता की ओर संकेत किया है[2] इसलिए व्यवहार नय और निश्चय नय वस्तुओं को दो पहलुओं के समझने के लिए दो संकेत हैं उनमें से एक को सत्य और दूसरे को मिथ्या नहीं कहा जा सकता। संकेत संकेत हैं स्वयं वस्तुभूत नहीं है इसलिए या तो दोनों ही असत्य हो सकते हैं या फिर दोनों ही सत्य। व्यवहार और निश्चय संकेतमात्र होने से दोनों अवस्तुभूत हैं परन्तु वस्तुभूत तत्त्व को समझाने में सहायक हैं इस अपेक्षा से दोनों प्रमाणभूत हैं। आचार्य कुन्दकुन्द की भी यही दृष्टि रही है तभी तो वे लिखते हैं— जीव कर्म से बद्ध है अथवा अबद्ध है ये दोनों ही नय पक्ष हैं जो पक्ष से अतिक्रान्त है वही समयसार है। अतः नय पक्षपात रहित समय से प्रतिबद्ध होकर दोनों नयों के कथन को जानता है किसी नय पक्ष को ग्रहण नहीं करता।[3]

इस प्रकार व्यवहार नय और निश्चय नय दोनों वस्तु स्वरूप को समझाने में सहायता करते हैं। फिर भी दोनों का विषय एक नहीं है समयसार की टीकाओं में लिखा है कि स्वाश्रित कथन को निश्चय तथा पराश्रित कथन को व्यवहार कहते हैं अथवा गुण गुणी का भेद न कर अखण्ड वस्तु को जानना निश्चय है और अन्तर

---

१ कलश नं० १११।

२ ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ॥४६॥

३ समयसार गाथा १४२-१४३।

लिये किए जाते है वे आचरण अभूतार्थ है—"भूतानाम्-जीवानाम् अर्थ :—प्रयोजन यस्मात् स भूतार्थ —' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जीवो का आत्महित रूप प्रयोजन जिससे सिद्ध होता है वह भूतार्थ नय या भूतार्थ धर्म है और जिससे सिद्ध नही होता वह अभूतार्थ नय या धर्म है। स्वय आचार्य कुन्दकुन्द भी व्यवहार नय को अभूतार्थ कहते है जिसका सहारा अभव्य लेता है न कि भव्य। समयसार गाथा क्रमांक २७३ की उत्थानिका इस प्रकार है—कथ अभव्येन आश्रियते व्यवहारनयः ? इसका उत्तर कुन्दकुन्द देते है "भगवान जिनेन्द्र के द्वारा प्रतिपादित व्रत, समिति, गुप्ति, शील, तप का पालन करते हुये भी अभव्य अज्ञानी मिथ्यादृष्टि होता है।"

यहा अभव्य के व्रत, समिति आदि पालन को व्यवहार नय का आश्रय कहा है। यह वही व्यवहार नय है जिसे अभूतार्थता की सज्ञा दी है।

इस प्रकार आचार्य कुन्द कुन्द और आचार्य अमृतचन्द्र की दृष्टि अभूतार्थ के विषय मे क्या रही है। यह सर्वांग स्पष्ट हो जाता है।

जो सत्य पदार्थ है वह अभूतार्थ भी हो सकता है और भूतार्थ भी। वैराग्य की भाषा मे स्त्री, पुत्र, मित्र आदि को झूठा कहा जाता है। वहा स्त्री पुत्रादिक का अस्तित्व ही नही है। यह बात नही है किन्तु ये रागवर्द्धक है ससार बधन के कारण है इसलिए वैराग्यवान को अर्थ (प्रयोजन) भूत न होने के कारण झूठे है। भजनो मे '[illegible] झूठा रे सारा साथिया' इसी अभिप्राय को पुष्ट करता है। "इन्द्रजालोपम जगत्" यहा जगत् को इन्द्रजाल की तरह बताया है जबकि इन्द्रजाल मे और जगत् मे बहुत अन्तर है। इन्द्रजाल मे तो आभास है किन्तु जगत् का तो प्रतिभास होता है। इन्द्रजाल मे वस्तु प्रतीति होकर भी वस्तु मे अर्थ क्रियाकारित्व नही है। जगत मे जो [illegible] है अर्थक्रिया सम्पन्न है। फिर भी जगत् को इन्द्रजाल कहने का अभिप्राय यही है कि जैसे इन्द्रजाल मे जो वस्तु दिखाई देती है उसका कुछ उपयोग नही है वैसे [illegible] पुद्गल विस्तार है उसका आत्म हित मे कोई उपयोग नही है।

परिवर्तित भी की जा सकती है पर इनका पुद्गलत्व नष्ट नही होता। पुद्गल असख्य तथा अनन्त दशाओ मे भी परिवर्तित हो वह पुद्गल ही रहेगा। सूरत बदल जाने से मूल वस्तु नही बदल जाती। शिशु देवदत्त युवावस्था मे बालक सूरत से सर्वथा बदल गया है पर वह है देवदत्त ही, वही व्यक्ति है जो शिशु था। इसलिये ये क्षणिक या स्थूल परिवर्तित दशाए है, जिसमे ये दशाए होती है वह मूलभूत वस्तु है, वह मूलभूत वस्तु अनेक दशाओ मे रहकर भी मूलत नष्ट नही होती। ये उक्त तीन प्रश्नो के उत्तर है। इससे निष्कर्ष यह निकला कि दशाए बदलने की दृष्टि से वस्तु अनित्य है और मूलभूत वस्तु के विनाश न होने की दृष्टि से वस्तु नित्य है। साख्य की नित्यता इसी दृष्टि के आधार पर है। अर्थात् असत् का कभी सद्भाव नही होता और सत् का कभी विनाश नही होता। नया उत्पाद जो हमारी दृष्टि मे आता है वह पुराने व्यय का परिणाम है यह नया पुराना किसी एक सत् की दो दशाए है[1]।

इस विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि पदार्थ मे नित्यत्व और अनित्यत्व ये दो विरोधी धर्म दो दृष्टियो से है। बस ये दृष्टिया ही नय है। जितनी दृष्टिया है उतने ही नय है। इन नयो को दृष्टि, अभिप्राय, अपेक्षा, विवक्षा, दृष्टिकोण, आदि शब्दो से कहा जाता है।

इन नयो को समझने के लिये एक सप्तभगी प्रक्रिया है। अर्थात् वस्तु मे विधि प्रतिषेध रूप दो मौलिक धर्म है। ये दोनो भग (धर्म) एक दूसरे से विपरीत होने के कारण युगपत् वाच्य नही होते है अत एक तीसरे भग 'अवक्तव्य' को जन्म देते है। इन तीन मौलिक भगो के द्विसयोगी और त्रिसयोगी भग मिलकर सात भग हो जाते है। यही सप्त भगी है।

है किन्तु अनभ्यास दशा मे उसके प्रयोग से अपने ही सिर (निजी मान्यताएं) के खंडन का भय रहता है। नयों का भी यही हाल है। ये नय बहुत हैं और परस्पर एक दूसरे के विरोधी हैं। मनुष्य भ्रम में पड जाता है कि इन विरोधी बातों में कोई एक ही सच हो सकती है दोनों नहीं। पर ये नय परस्पर विरुद्ध नय को बतलाकर भी दोनों ही सत्य बने रहते हैं। उदाहरण के लिए बौद्ध दर्शन पदार्थ को क्षणिक अनित्य सिद्ध करता है सांख्य दर्शन उन्हीं पदार्थों को नित्य और शाश्वत सिद्ध करता है। पदार्थ की नित्यता और अनित्यता दो परस्पर विरोधी धर्म हैं फिर भी ये असत्य नहीं हैं। एक वस्तु को जितनी विभिन्न दृष्टियों से देखा जायगा उसमें उतने ही विभिन्न धर्म परिलक्षित होंगे। नित्यता और अनित्यता दो भिन्न दृष्टियां हैं अतः पदार्थ का नित्यानित्यात्मक होना ठीक है। अनित्य वह इसलिए है कि एक ही पदार्थ कभी एक दशा में नहीं रहता। परिवर्तनशीलता उसका स्वभाव है और ये परिवर्तन प्रत्येक क्षण होते हैं ये क्षणिक परिवर्तन हमें दिखाई नहीं देते और वस्तु जैसी की तैसी दिखाई देती है वही परिवर्तन जब स्थूल और मूर्तरूप धारण करते हैं तो हम समझते हैं वस्तु परिवर्तित हुई है। उदाहरण के लिए एक आम्र फल जिसे एक सप्ताह पहले वृक्ष पर हरा देखा था अब पीला दिखाई देने लगा है। पर वस्तुतः वह सात दिन बाद पीला नहीं हुआ किंतु प्रत्येक क्षण उसमें पीलापन आया है। वह क्षणिक पीलिमा हमें चक्षुगोचर नहीं होती थी सात दिन बाद उसकी स्थूल पीलिमा के दर्शन हुए तो हमने समझा कि अब पीला हुआ है। यदि एक समय का सूक्ष्म परिवर्तन न हो तो अनेक समयों का स्थूल परिवर्तन भी नहीं हो सकता। देवदत्त शिशु अवस्था से युवा हो गया और उसकी ऊंचाई एक फुट से लेकर पांच फुट तक बढ़ गई। यह चार फुट की वृद्धि प्रत्येक सेकेंड प्रत्येक पल प्रत्येक दिवस का परिणाम है अतः कहना होगा कि वस्तु का स्थूल परिवर्तन क्षणिक परिवर्तनों के बिना नहीं होता इसलिए वस्तुओं को क्षणिक या अनित्य मानने में कोई बाधा नहीं है।

अब दूसरी दृष्टि की तरफ आइये जो वस्तु को नित्य बतलाती है। जिन क्षणिक परिवर्तनों की चर्चा ऊपर कर आये हैं वे परिवर्तन क्या हैं? किसके होते हैं। और जिसके होते हैं उसका क्या होता है? ये प्रश्न हैं जिनके समाधान से पदार्थ की नित्यता समझी जा सकती है।

ये क्षणिक परिवर्तन मूलभूत वस्तु की दशाएं हैं। आम का हरा होना और बाद में पीला होना ये आम की दो दशाएं हैं। माना कि ये परिवर्तित होती हैं पर इस परिवर्तन से आम का अस्तित्व नष्ट नहीं होता। आम अमरूद या सिंघाड़ा नहीं बन जाता वह आम ही रहता है। द्रव्य [illegible] के दो मौलिक तत्त्व हैं एक [illegible] दूसरा [illegible]। जैन दर्शन में इन्हें ही क्रमशः द्रव्य और पर्याय नाम से उल्लिखित किया है। पुद्गल की अनेक दशाएं हैं [illegible]। ये दशाएं बनती बिगड़ती रहती हैं [illegible] में कोई एक दूसरे से

फिर भी कोई नय उसके अस्तित्व का प्रतिपादन करता है तो वह हे उससे इन्कार नही किया जा सकता। उदाहरण के लिये सात नयो मे नैगम नय सकल्प मात्र को ही वस्तुरूप से ग्रहण करता है। भात बनाने के लिये समिधा इकट्ठे करने वाले से उसके काम के बारे मे पूछा जाय तो वह यही कहेगा कि मे भात बना रहा हू। यद्यपि वहा भात नही है भात का मात्र सकल्प है फिर भी उसका यह कहना कि मे भात बना रहा हू सत्य हे। अत ये नय असत् को भी सत् बनाते है फिर भी सम्यग्ज्ञान के अंश है। किसी भी बात की वास्तविकता वक्ता के अभिप्राय से जानी जा सकती उसके शब्दो या व्यवहार से नही। इसलिये नयो के लक्षण मे स्पष्ट लिखा है "ज्ञातुरभिप्रायो नय" अर्थात् ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते है। ये अभिप्राय असख्य होते है इसलिये वस्तुत नयो की सख्या नही है फिर भी जैन दर्शन मे इनको सीमित करने का प्रयत्न किया गया है। अत आगम मे सर्वत्र सात नय दृष्टिगोचर होते है। जिन्हे क्रम से नैगमनय, सग्रहनय, व्यवहारनय, ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढनय, एवभूतनय कहा जाता है। नैगम नय जैसा कि ऊपर बताया गया है वस्तु का अभाव होने पर भी केवल उसके सकल्प मात्र से उसे सत् रूप ग्रहण करता है। अत यह नय असत् को सत् मानकर चलता है।

दूसरा सग्रहनय विभिन्न पदार्थो को एक देखता है। प्रत्येक पदार्थ की अपनी-अपनी सत्ता पृथक् है पर उसे सत्ता पार्थक्य से कोई मतलब नही। वह तो जितने पदार्थ पृथक्-पृथक् सत्ता को लेकर स्थित है उन सबको एक 'सत्' मे ग्रहण करता जाता है। यह असत् को तो सत् नही मानता किन्तु अनेक अस्तित्वो को एक सत् मानकर चलता है। इसलिए प्रथम नय से सूक्ष्म होकर भी अनेकता मे एकता लाने के कारण विषय को स्थूल करता है। सभी प्राणधारियो को एक जीव शब्द से कहना इसका उदाहरण है।

की संख्या निकल आती है। उदाहरण के लिये यदि मूल धर्म ४ है तो चार बार दो की संख्या रखकर उसका गुणा करने से १६ होते हैं उसमें एक कम कर देने से १५ होते हैं। कम चार वस्तुओं के द्विसंयोगी त्रिसंयोगी और चतुःसंयोगी भंग मिलाकर १५ ही हो सकते।

प्रश्न हो सकता कि जब मूलभूत धर्म बहुत हो सकते हैं तो उनके संयोगी भंग भी बहुत हो सकते हैं फिर जैन दर्शन में सर्वत्र सप्तभंगी का ही प्रदर्शन क्यों मिलता है इसका उत्तर यह है कि पृथक्-पृथक् द्रव्यों के पृथक्-पृथक् धर्म हैं अतः उनकी संख्या अनन्त है। उन सबका इस प्रकार वर्गीकरण नहीं किया जा सकता जिसमें सभी द्रव्य और उनके अनन्त गुणों का समावेश हो जाय।

किन्तु सत् कहने में सभी द्रव्य और उनके अन्वयीगुण अन्तर्गत हो जाते हैं अतः एक अस्तित्व धर्म ले लिया और दूसरा इसका प्रतिपक्षी नास्तित्व ग्रहण कर लिया है। ये दोनों धर्म सभी द्रव्य उनके सभी गुणपर्यायों के साथ लग सकते हैं। यह स्मरण रखना चाहिये कि सप्तभंगी का व्यवहार परस्पर प्रतिपक्षी धर्मों में ही होता है। इसलिये उनमें विधि प्रतिषेध कल्पना का होना अनिवार्य है।[1] कोई भी गुण ले लीजिये सप्तभंगी नय का अवतरण करने के लिये एक विध्यात्मक दूसरा निषेधात्मक होना चाहिये। उदाहरण के लिये अस्तित्वगुण को लेकर इस प्रकार सात भंग होंगे १ स्यादस्त्येव २ स्यान्नास्त्येव ३ स्यादवक्तव्य एव ४ स्यादस्तिनास्त्येव ५ स्यादस्त्यवक्तव्यमेव। ६ स्यान्नास्त्यवक्तव्य एव ७ स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्य एव

इन भंगों में स्यात् और एव ये शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं। स्यात् शब्द सूचित करता है कि पदार्थ उतना ही नहीं है और भी है तथा एव शब्द बतलाता है कि और भी होने से उसको संशयात्मक नहीं मान लेना चाहिये। क्योंकि जो धर्म जिस अपेक्षा से कहा जाता है उस अपेक्षा से वह वैसा है उसमें कोई संशय नहीं है अतः स्यात् और एव ये दोनों शब्द वस्तु के स्वरूप को सन्तुलित रखते हैं। स्यात् शब्द उसकी न्यूनता से रक्षा करता है और एव शब्द उसकी अतिरिक्तता से रक्षा करता है। न्यून और अतिरिक्तता से रहित यथार्थ अविपरीत और असंदिग्ध ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहा है।[2]

इस कथन से यह बात परिलक्षित हुई कि जिस वस्तु को जिस दृष्टि से जैसा कहा जा रहा है उस दृष्टि से वह वैसा ही है। इस [illegible] वस्तु स्वरूप में अनेकरूपता प्रकट करता है। ये दृष्टियाँ ही स्याद्वाद भाषा में नय कहलाती हैं। अतः प्रत्येक नय का विषय सत्य है असत्य नहीं है। वस्तु [illegible] हो [illegible] भी हो

---

१ एकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेध कल्पना सप्तभंगी ॥ रा वा

२ अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥ र श्रा १ २ ॥

सात नयो को निम्न दो नयो मे गर्भित कर लिया गया है—एक द्रव्यार्थिक दूसरा पर्यायार्थिक। जो नय द्रव्य की प्रधानता से वस्तु को आँकता है वह द्रव्यार्थिक नय है और जो पर्याय की प्रधानता से आँकता है वह पर्यायार्थिक नय है।

उक्त सात नयो मे से पहले के तीन द्रव्यार्थिक नय मे गर्भित होते है क्योकि ये सत् की प्रधानता रखते है पर्याय की नही। सत् को द्रव्य का लक्षण माना गया है। शेष चार नय सत् की नही किंतु पर्याय की प्रधानता रखते है अतः ये पर्यायार्थिक नय है।

कही-कही इन्हे अर्थनय और शब्दनय से भी कहा गया है। इनमे पहले के चार नय अर्थनय है और बाद के तीन नय शब्द नय है।[1] क्योकि ऋजुसूत्रनय तक केवल अर्थ की दृष्टि से ही पदार्थों को देखा गया है और बाद मे शब्द की दृष्टि से पदार्थ का विश्लेषण किया गया है। इस पृथक्-पृथक् नामकरण मे केवल दृष्टि भेद है। अन्य कोई अन्तर नही है। मूलत ये सात नय उक्त दोनो नयो मे ही अन्तर्भूत हो जाते है। अब हमारे सामने दो नय है एक द्रव्यार्थिकनय दूसरा पर्यायार्थिक नय। तथा पहले निश्चय नय और व्यवहार नय की भी चर्चा की जा चुकी है। देखना यह है कि इन दोनो प्रकार के युगल नयो की स्थिति क्या है? और दोनो मे परस्पर क्या भेद है? या नही भी है।

जैनाचार्यों ने जैसे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय को मूल दो नय माना है वैसे ही निश्चय और व्यवहार को भी मूल दो नय माना है।[2] साथ मे यह भी कहा है कि [illegible] पर्यायार्थिक निश्चय साधन के हेतु है। सिद्धात के उद्भट विद्वान पंडित [illegible] ने निश्चय व्यवहार को मूल नय मानकर निश्चय के दो भेद किये है। एक द्रव्यार्थिक और दूसरा पर्यायार्थिक। किन्ही विद्वानो का यह भी मत है कि निश्चय नय ही द्रव्यार्थिक है और व्यवहार नय ही पर्यायार्थिक है[3]। वस्तुत बात [illegible] दृष्टि भेद [illegible] वैसे वे स्वय भी दृष्टि भेद के विषय है। [illegible] प्रयोग और प्रकरण के अनुसार की जाती है। [illegible] किये है[4] उनमे नैगमादि तीन नयों का अन्तर्भाव नही [illegible] द्रव्यार्थिक स्वीकार किया गया है। यदि वे द्रव्यार्थिक है तो क्या

1. [illegible]
2. [illegible] ॥२८३॥ [illegible] २८३
3. [illegible]
4. [illegible]

के कर्ता जब द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक को निश्चय का साधन मान रहे है तब उनका लक्ष्य उक्त दोनो नयो को व्यवहार नय के अन्तर्भूत कहना ही प्रतीत होता है।

तब प्रश्न यह उठता है कि यदि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक व्यवहार नय की कोटि मे आते है तो निश्चय नय को कोटि मे क्या आएगा ? इसका उत्तर यह है कि द्रव्यार्थिक के दश भेदो मे दसवाँ भेद परमभाव ग्राहक नय है। उसका लक्षण आचार्य देवसेन ने निम्न प्रकार लिखा है।

गिल्लइ दव्व सहाव असुद्ध सुद्धोपचार परिचत्त।
सो परभावग्राही णायव्वो सिद्धिकामेण ॥ त. च २६ ॥

अशुद्ध शुद्ध और उपचार (व्यवहार) से रहित जो द्रव्य स्वभाव को ग्रहण करता है वह सिद्धि के इच्छुक पुरुष को परम भाव ग्राही नय जानना चाहिये।

इस गाथा मे अशुद्ध और शुद्ध से मतलब अशुद्ध निश्चयनय और शुद्ध निश्चय-नय से है तथा उपचार का अर्थ व्यवहार है। यह अशुद्ध और शुद्ध निश्चय नय प्रकारान्त मे द्रव्यार्थिक नय ही है परम भाव ग्राहक नय मे अशुद्धता का प्रश्न ही नही है।

यह परमभाव ग्राहक नय ही अध्यात्म भाषा मे निश्चयनय कहा गया है।

समयसार मे निश्चयनय से आत्मा का स्वरूप आचार्य कुन्दकुन्द ने इस प्रकार बताया है—

ण वि होदि अपमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो
एव भणन्ति सुद्ध णाओ जो सोउ सो चेव ॥६॥ सा सा

अर्थात् आत्मा का जो यह ज्ञायक भाव है न प्रमत्त है न अप्रमत्त है वह जैसा [illegible] अनुभव मे ज्ञान है वैसा ही है इसी को शुद्ध कहते है। यहाँ स्पष्ट अप्रमत्त अर्थात् [illegible] और प्रमत्त अर्थात् दोनो का निषेध किया है और एक ज्ञायक भाव को आत्मा बताया है।

इसी प्रकार आचार्य सातवी गाथा मे लिखते है कि आत्मा के दर्शन ज्ञान [illegible] व्यवहारनय से है। निश्चयनय से न ज्ञान है, न दर्शन है न चारित्र है, मात्र [illegible]।

एकातशान्त, अचल और चैतन्य तेज हू ।[1]

आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है कि सम्यग्दृष्टि के ही ज्ञान वैराग्य की शक्ति नियत होती है क्योकि पर रूप से रहित स्व को पहचानने का वह अभ्यास करता है। और अभ्यास हो जाने के बाद सम्पूर्ण पर राग से विरत होकर अपने मे ही स्थिर हो जाता है। अत सम्यक्दृष्टि नयो के सहारे ही वस्तु तत्व की पहचान कर हेय उपादेय को समझना है और बाद मे उन नयो को छोड कर अपने कार्य मे लग जाना है[2]।

समयसार मे अनेक स्थान पर सम्यग्दृष्टि की चर्चा की गई है[3]। अत सम्यग्दर्शन के सबंध में समयसार के दृष्टिकोण को समझना अत्यन्त आवश्यक है। आगे के अध्याय मे उसी को समझाने का प्रयत्न किया जायगा।

सम्यकदर्शन की सगतव्याख्या :

सम्यक दर्शन का शब्दार्थ है 'ठीक देखना' लोक मे जिनके आखे है वे ठीक ही देखते है। यद्यपि रस्सी को सर्प भी आखो वाले ही देखते है। अत उनका देखना ठीक नही है। लेकिन इस चक्षुदर्शन मे सम्यक् दर्शन का कोई सबध नही है। निर्मल चक्षु रखने वाला भी मिथ्यादृष्टि हो सकता है और चक्षु दोष से सयुक्त अथवा पूर्णतया चक्षुहीन भी सम्यक्दृष्टि हो सकता है। इसलिये सम्यक्दर्शन से साक्षात् 'ठीक देखना' न लेकर आचार्यो ने 'ठीक श्रद्धान' लिया है। और इसके लिये लिखा है कि यद्यपि दर्शन का अर्थ देखना ही है पर प्रकरण मोक्ष मार्ग का है इसलिये इसका यहा अर्थ श्रद्धान ही लेना चाहिये। साथ ही यह भी लिखा है कि धातुओं के अनेक अर्थ होते है। अत 'दृश्' धातु का अर्थ श्रद्धान करने मे भी कोई दोष नही है।

इस प्रकार कुन्दकुन्द एव उनके सभी टीकाकारो ने निश्चयनय की विवक्षा मे परमभाव ग्राहकनय को ही ग्रहण किया है और उसी दृष्टि से समयसार भूत आत्मा का वर्णन किया है।

वस्तुत समयसार मे भेद प्रभेदो के लिए स्थान ही कहाँ है। वहाँ तो एक ही बात है—आत्मा को ज्ञायक भाव के अतिरिक्त अन्य कुछ भी कहना व्यवहारनय है चाहे वह द्रव्यार्थिकनय हो या पर्यायार्थिक, शुद्ध निश्चयनय हो या अशुद्ध निश्चयनय अथवा सद्भूत असद्भूत और उपचरित नय हो, कुन्दकुन्द को इन भेदो से कोई मतलब नही है। परमभाव ग्राहक नय तो उनका निश्चयनय है और इतर शेषनय व्यवहार नय है। इन दो ही दृष्टियो मे वे आत्मा का वर्णन करते जाते हैं। उनके यहाँ आत्मा की ऐसी ही दशा है ज्ञानी और अज्ञानी निर्विकल्प अवस्थावान आत्मा ज्ञानी है। सविकल्प अज्ञानी है। जब आत्मा-आत्मा मे तन्मय है तब अन्तरात्मा है और ज्यो ही आत्म चिन्तन से अलग हुआ कि वह बहिरात्मा है। परभाव से हटकर जब वह स्वभाव मे है तभी वह प्रतिक्रमण रहित है जो अमृतस्वरूप है आगम मे वर्णित दैवसिक पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण करना विषकुंभ है। जो श्रुत से आत्मा को जानता है वह श्रुतकेवली है और जो सपूर्ण श्रुत को जानता है वह तो व्यवहार से केवली है। इस प्रकार आत्मा के एक ज्ञायक भाव को छोडकर उसकी सभी दशाए चाहे वे कर्मोपाधि निरपेक्ष हो या कर्मोपाधि सापेक्ष व्यवहारनय के अन्तर्गत है। उनके यहाँ द्रव्य की अभेद और अवक्तव्य अवस्था ही निश्चयनय है। वह वक्तव्य नही है क्योकि वचन मात्र व्यवहार है इसीलिए कुन्दकुन्द कहते हैं कि व्यवहारनय निश्चय से प्रतिषिद्ध है अर्थात् आत्मा के सम्बन्ध मे व्यवहार दृष्टि का प्रतिषेध ही निश्चयनय का विषयभूत आत्मा है।

सार यह है कि आगम मे मूलनय दो हैं द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक इनके उत्तर भेद सख्यात असख्यात है। अध्यात्मचिंतन मे निश्चय और व्यवहारनय है इनके कोई उत्तर भेद नही है। समयसार मे इन्ही दो नयो के आश्रित कथन है। इनमे निश्चय की प्रधानता दी है और व्यवहार की गौणता। निश्चयनय को शुद्धनय परमार्थ भूतार्थ आदि नाम से पुकारा गया है और व्यवहार को अशुद्धनय अपरमार्थ अभूतार्थ।

यह स्मरण रखना चाहिए कि कोई भी कथन किसी एक नय की प्रधानता से ही हुआ करता है। तत्वार्थसूत्र मे उमास्वाति आचार्य ने अर्पितानर्पित सिद्ध कहकर इसी नय सबधी प्रधानता अप्रधानता की ओर सकेत किया है। इसका अर्थ यह नही है कि प्रधान नय सत्यार्थ है और गौण नय असत्यार्थ है। किन्तु अभिप्राय इतना ही है कि जिस नय की प्रधानता से जो कथन कही जा रही है वही नय भूतार्थ है एव तत्समय अन्य नय अभूतार्थ है।

यदि व्यवहारनय की प्रधानता से कोई कथन किया गया हो तो उस समय वहा व्यवहार है निश्चयनय अभूतार्थ है। [illegible]

[illegible]

कहलाता है। सम्यक्ज्ञान का सवध आत्मश्रद्धान से है और आत्मज्ञान का सबंध आत्म रमणना से है और आत्म ज्ञान का झुकाव सम्यक् चरित्र की ओर है। अत. दोनो मे अन्तर है। अन्यथा सम्यक दर्शन के साथ जैसे सम्यक्ज्ञान होता हे वैसे ही सम्यक् चरित्र भी होता है तव यदि उस सम्यक्ज्ञान को आत्मज्ञान मान लिया जाय तो उस सम्यक् चरित्र को आत्म रमणता भी माना जा सकता है। लेकिन ऐसा नही है। इसलिये सम्यक् दर्शन होने के साथ सम्यक् चरित्र होने पर भी जेसे वह असयत हे वैसे ही सम्यक्दर्शन के साथ सम्यज्ञान होने पर भी वह आत्मज्ञान नही है।

किसी वस्तु का ज्ञान श्रद्धान मे नही है किन्तु श्रद्धान के अनुकूल आचरण मे है। विना आचरण के शाब्दिक ज्ञान को हस्तिस्नान कहा है। यही कारण है कि ग्यारह अग और नौ पूर्व के पाठी को भी अज्ञानी कहा है। प० वनारसी दास जी ने नाटक समय सार मे लिखा हे कि गृहवास मे रहकर आत्मा की उपासना करना उतना ही कठिन है जितना मोम के दातो से लोहे के चने चवाना, अथवा दिया सलाई की तूली से पर्वत भेदना, अथवा गज लेकर आकाश नापना। सम्यक्-दृष्टि भी गृहवास मे रहता है, विषय कषायो से विरक्त नही हे अत' जैसा उसने आत्मा का श्रद्धान किया है वैसा वह आचरण नही करता इसलिये वह आत्मा ज्ञानी नही हो सकता। सम्यक् दर्शन मे भेदज्ञान है भेदरूप आचरण नही है। श्रद्धा मे जानता है कि आत्मा और देहादि पृथक् है लेकिन पृथक्ता वह नही करता। प० दौलतरामजी ने लिखा है कि 'जिन परम पेनी सुबुधि छेनी डार अन्तर भेदिया, वर्णादि अरु रागादि तें निज भाव को न्यारा किया' अर्थात् शुद्ध उपयोग की दशा मे [illegible] निज भाव (आत्मा) से पर

निवारण ही श्रद्धा को पुष्ट करता है। अतः शंका तो सम्यकदर्शन की सहायक है विरोधी नही।

इन त्रुटियो को दूर करने के लिये आचार्य कुन्द कुन्द कहते है कि सम्यक्दृष्टि निशंक तो है पर उसकी निःशंकता अंधश्रद्धा नही है किन्तु निर्भयता है। तत्व की यथार्थता समझने वाले व्यक्ति को उसके अन्यथा परिणमन का भय नही होता। यही उसकी निःशंकता है। यदि सर्वज्ञ ने कहा है कि आत्मा अजर और अमर है तो आत्मा के जरा मरण भय से मुक्त रहना सम्यक्दर्शन का फल है। ऐसी स्थिति में बुढापा और मृत्यु मे वह कातर नही होता, और यदि वह इससे घबडाता है तो सचमुच वह सर्वज्ञ प्रतिपादित आत्मा की अजरता और अमरता मे विश्वास नही रखता। अतः वह निःशंकित अंग का पालन नही करता। इस तरह सम्यक्दृष्टि का निःशंकित अंग सर्वज्ञ भाषित तत्वो मे शंका नही करना है पर उसका पर्यवसान निर्भयता मे होना चाहिये। मात्र श्रद्धा मे नही। यो निःशंकित अंग के लौकिक और आध्यात्मिक दोनो पक्षो का समन्वय कुन्दकुन्द की व्याख्या मे हो जाता है।

दूसरा अंग निःकांक्षित है। उसका लौकिक पक्ष है पाप के बीज इन्द्रिय सुखों की वांछा नही रखनी चाहिये। क्योकि ये पुण्य पाप कर्म के आधीन है, विनाशीक है, और दु[illegible] है।

अन्तर बताने के बाद अब समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने सम्यग्दृष्टि की जो परिभाषा की है वह बतावेंगे।

जैन धर्म में सम्यग्दर्शन के दो पक्ष स्वीकार किये हैं एक लौकिक पक्ष दूसरा अध्यात्म पक्ष। लौकिक पक्ष को व्यवहार पक्ष भी कहा जा सकता है। वस्तुतः सम्यग्दर्शन आत्मा का गुण है अतः उसकी व्याख्या ऐसी होना चाहिये जो आत्मा के लौकिक और अध्यात्म दोनों पक्षों का ज्ञान करे। गृहस्थ व्यवहार प्रधान होते हैं और साधु परमार्थ प्रधान होते हैं। अतः गृहस्थों को लौकिक पक्ष की प्रधानता से सम्यक् दर्शन की व्याख्या की गई है। रत्नकरण्ड में समन्तभद्र ने लौकिक पक्ष ही उपस्थित किया है। आचार्य अमृतचन्द्र ने अपने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में लौकिक और अध्यात्म दोनों पक्ष उपस्थित किये हैं किन्तु भगवान् कुन्दकुन्द ने दोनों का समन्वयात्मक पक्ष उपस्थित किया है।

लौकिक पक्ष में सम्यक् दर्शन के आठ अंगों का विवेचन किया है। इन्हें अंग इसलिए कहा है कि अंगी का निर्माण अंगों से ही होता है। इसी तरह सम्यग्दर्शन का निर्माण उसके आठ अंगों से होता है। जैसे अंगों का समुदाय मनुष्य है यदि एक भी अंग कम हो तो मनुष्य पूर्णाकार नहीं होता उसी प्रकार यदि एक अंग भी कम हो तो वह सम्यग्दर्शन संसार परम्परा का उच्छेद नहीं कर सकता। इसलिये ये आठ अंग सम्यग्दर्शन के लिये उसी तरह आवश्यक हैं जिस तरह अंगी के लिये अंग। इन आठ अंगों के नाम इस प्रकार हैं—निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना। निःशंकित अंग का लौकिक पक्ष इस प्रकार है। जिनेन्द्र ने तत्त्व का जो स्वरूप बताया है उसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिये। शंका एक प्रकार की अश्रद्धा है। जिसे जिनेन्द्र प्रणीत तत्त्व में अश्रद्धा है उसकी दृष्टि सम्यक् कैसे हो सकती है?

श्रद्धालु प्राणी उस तत्त्व का ठीक आचरण कर सकता है अतः सात्त्विक आचरण में उसकी दृष्टि को सम्यक् कहा जा सकता है।

शंका रखने वाला व्यक्ति अस्थिरचित्त होता है और [illegible] कार्य में सफलता में त्रुटि होती है। अतः यदि [illegible] है उसकी दृष्टि भी दूषित ही होगी। ऐसी स्थिति में दृष्टि को सम्यक् नहीं कहा जा सकता। शंका एक प्रकार का अन्तर्द्वन्द्व [illegible] है। [illegible] भ्रान्ति [illegible] के प्रति अनास्था प्रकट करता है। [illegible] कि आत्मा का स्वभाव है अतः आत्म स्वभाव को अनास्था करने वाला सम्यक् दृष्टि नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार यह निःशंकित अंग का लौकिक पक्ष है। लेकिन इसमें कुछ आपत्ति है—

एक तो यह कि अन्ध श्रद्धा (विश्वास) में भी मनुष्य निःशंक होता है और ऐसी स्थिति शंकाशील होने से भी अधिक बुरी है।

दूसरा यह कि शंका तो सन्देह निवारण के लिए की जाती है और [illegible]

मूढ़ता प्रमाद या अज्ञान है। अत यदि मिथ्या दृष्टि की प्रशसा का कोई प्रसग है तो उसमे यह विवेक रखना चाहिये कि जिस विषय मे उसकी दृष्टि मिथ्या है उसकी प्रशसा से बचकर यदि उसके अन्य कार्यो की उत्कर्पता की सराहना की जा सकती है तो वह मूढ दृष्टि नही है। जल मिश्रित दूध मे से जल पी लेना हस की अपनी सावधानी है मूढ़ता नही। इसी प्रकार सम्मिलित अच्छाई और बुराई मे से अच्छाई को प्रकट करना अमूढ दृष्टि ही है मूढ दृष्टि नही है। यशस्तिलक मे आचार्य सोमदेव ने लिखा है, जैनो की सभी लौकिक विधियाँ मान्य करना चाहिये यदि सम्यक दर्शन की हानि न हो और व्रतो मे कोई दूषण न लगे।"[1] इससे भी इसी बात का समर्थन होता है कि लौकिक और आध्यात्मिक दोनो प्रवृत्तियो मे दृष्टि को असमूढ़ नही होने देना चाहिये। इससे सम्यक् दृष्टि की सतत जागरूकता सिद्ध होती है।

पाचवा उपगूहन अग है- इसके लौकिक स्वरूप मे कहा गया है कि कोई अज्ञानी या अशक्त व्यक्ति सन्मार्ग (मोक्षमार्ग) को दूषित करे या उसकी निन्दा करे तो उसका प्रमार्जन करना चाहिये।

इसकी अपूर्णता यह है कि निन्दा सन्मार्ग की न करने से अन्य निंदाएं ग्राह्य बन जाती है [illegible] म [illegible] प्रकार की निन्दा बुरी है सन्मार्ग, व्यक्ति, वस्तु, वस्तु के धर्म [illegible] की निन्दा निन्दा है उस निन्दा को प्रोत्साहन देना द्वेष और क्षोभ को [illegible]। अत सम्यक्दृष्टि को निन्दा मात्र से बचना चाहिये।

कुन्दकुन्द ने इस अग की व्याख्या मे इसी दृष्टि का पोषण किया है। वे [illegible] [illegible] से युक्त होकर सभी बाह्य वस्तुधर्मो को गोपन करना [illegible]।

उसमें आसक्ति रखना दृष्टि का विपर्यास है अतः इस प्रकार की आकांक्षा बुरी है।

तीसरा निर्विचिकित्सा अंग है। इसका लौकिक रूप निम्न प्रकार है—शरीर अपवित्र है। नव द्वारों से जो मलस्राव होता है उसका यह घर है और स्वयं भी मांस मज्जा अस्थि रक्त आदि का पिण्ड है। रजोवीर्य से इसकी उत्पत्ति है फिर भी यदि रत्नत्रय से पवित्र हो तो उससे जुगुप्सा नहीं करना चाहिये प्रत्युत रत्नत्रय धारी (दर्शन ज्ञान चारित्रधारी) के गुणों से प्रेम करना चाहिये उसकी हो सके तो सेवा भी करना चाहिये यही निर्विचिकित्सा अंग है।

फलित यह है कि यदि कोई रत्नत्रय धारी न हो साधारण व्यक्ति हो बीमार है। उसके शरीर में व्रण हो या अत्यधिक जल गया हो तो अवसर आने पर सम्यग्दृष्टि उसके शरीर का स्पर्श नहीं कर सकेगा क्योंकि वह रत्नत्रयधारी नहीं है।

किंतु आचार्य कुन्दकुन्द की मान्यता है कि वस्तु का स्वभाव नहीं बदला जा सकता उसकी पवित्रता या अपवित्रता वस्तुगत नहीं है। आत्मा का स्वभाव ज्ञान दर्शन है अग्नि का स्वभाव उष्णता है वायु का स्वभाव बहना है जल का स्वभाव शीत है यदि इनमें कोई पवित्रता और अपवित्रता का विकल्प नहीं है तो शरीर के स्वभाव में ही क्या अपवित्रता के विकल्प को लेकर जुगुप्सा के भाव किये जाने चाहिये। जुगुप्सा (ग्लानि) एक प्रकार की कषाय (नो कषाय) है सम्यग्दृष्टि कषायों से बचता है क्योंकि कषाय करना उसका अपना स्वभाव नहीं है अतः संसार के सभी वस्तु धर्मों में विचिकित्सा (जुगुप्सा) नहीं करना निर्विचिकित्सा अंग है।[1] इस प्रकार के आचरण में इस अंग का लौकिक पक्ष भी आ जाता है।

चौथा अंग अमूढदृष्टि है इस शब्द का सीधा अर्थ है मूढदृष्टि न होना। इसके लौकिक स्वरूप की व्याख्या में कहा गया है कि जो मिथ्यादृष्टि पुरुष हैं सद्मार्ग से द्वेष करते हैं उनकी प्रशंसा कीर्ति नहीं करना चाहिये। मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा करना मिथ्यात्व को प्रोत्साहन देना है। सम्यग्दृष्टि भला ऐसा असम्यक् काम कैसे कर सकता है। इसका अर्थ यह नहीं कि वह निन्दा करे फलित यह है कि उसे मध्यस्थ रहना चाहिये।

इसमें युक्ति यह है कि जगत में मिथ्यादृष्टि भी साहित्य बुद्धि चातुर्य शक्ति वैभव शक्ति कलाओं में अपनी विशेषता रखते हैं और संसार उनकी प्रशंसा करता है तब सम्यक् दृष्टि भी उस दृष्टि से यदि प्रशंसा के दो शब्द कह देता है तो क्या असम्यग्दर्शित्व है। व्यवहार की दुनिया में ही यह न रह सके ऐसा अशक्य है।

आचार्य कुन्दकुन्द इसकी व्याख्या करते हैं—संसार की सभी वस्तुओं में अपनी दृष्टि को असंमूढ (विवेक पूर्ण) रखना चाहिये।[2] अमूढता आत्मचिन्तना का विषय है

1—इसी गाथा २३१

2—गाथा सं० २३२।

अभिप्राय उन गुणी पुरुषो से ही है।

कुन्दकुन्द इस अग का स्पष्टीकरण इस प्रकार करते है—

जो सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चरित्र इन आत्मगुणो मे या इनके धारक आचार्य उपाध्याय साधु मे प्रेम रखता है वह वात्सल्य अग का धारी सम्यक्दृष्टि है।[1]

वह स्वय सम्यक्दृष्टि है इसलिए सम्यक्दर्शनादि गुणो के धारक पुरुषो मे प्रेम होना उसका स्वाभाविक है। अध्यात्म पथिक का आध्यात्मिक पुरुषो का समुदाय ही वर्ग हो सकता है। यदि उस वर्ग के प्रति सम्यक्दृष्टि को बहुमान नही आता तो वह सम्यक्दृष्टि नही है। आठवॉ अग प्रभावना है—मिथ्यात्वरूपी अधकार को दूर करने के लिए जिन शासन के माहात्म्य का प्रकाश करना प्रभावना अग है।

प्राचीनकाल मे जिन प्रतिमा को रथ मे बैठाकर विहार कराया जाता था जिसकी प्रथा अब भी रथयात्रा रूप मे प्रचलित है। इस अग की कथा भी इसी रूप मे प्रसिद्ध है। इससे अनेक जीवो को जिनबिम्ब के दर्शन होते थे और काल लब्धि के निकट रहने पर मिथ्यात्व का वमन कर सम्यक्दर्शन ग्रहण करते थे। यह एक धर्म की प्रभावना का मार्ग था। लेकिन इसमे व्यक्ति को अपनी प्रभावना का कोई स्थान नही है।[2]

कुन्दकुन्द भगवान कहते है कि प्रभावना करने के लिए ज्ञान रूपी रथ मे आरूढ होकर उस पथ मे जिसमे पहले मनोरथ चलते थे आत्मा को भ्रमण करना चाहिए।

यहा अर्थ है। व्यक्ति की तरह वस्तु और वस्तुधर्मों म भी निन्दा को स्थान देना सम्यग्दृष्टि को उचित नहीं है। इस सबध म जो निर्विचिकित्सा नामके तीसरे अग में लिखा गया है वही समझना चाहिये। कुन्दकुन्द की इस व्याख्या म वह लौकिक पक्ष भी आ जाता है।

छठा अग स्थितिकरण है इसकी व्यावहारिक व्याख्या इस प्रकार की गई है—सम्यग्दर्शन या सम्यक्चारित्र म जो शिथिल हो रहे हैं उन्हें पुन दर्शन और चरित्र म दृढ कर देना चाहिए।

यह व्याख्या एकदेशीय इसलिए है कि सभी जीव सम्यग्दृष्टि या सम्यक् चरित्र वान नहीं है जिससे उन्हें ही उन गुणो की शिथिलता से बचाया जाय। यदि मिथ्यादृष्टि भी हो किन्तु उसमें करुणा, सौजन्य आदि गुणों की शिथिलता हो रही हो तो उसे भी यथाशक्ति यथा सुविधा उस शिथिलता से बचाना चाहिए। उन्मार्ग म प्रवृत्त व्यक्ति को चाहे वह सम्यग्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि हो बचाना ही चाहिए। यही इस अग की सार्थकता है।

दूसरे को बचाने के साथ यदि स्वय भी शिथिल हो रहा हो तो अपने को भी बचाना चाहिए। इसी दृष्टिकोण को लेकर आचार्य कुन्दकुन्द ने इस अग की व्याख्या इस प्रकार की है—

उन्मार्ग म जाते हुए अपने आपको भी जो मार्ग म स्थापित करता है वह स्थितिकरण अग का धारक सम्यग्दृष्टि है।[1]

कुन्दकुन्द की इस व्याख्या म उन्मार्ग और मार्ग शब्द सामान्य रूप का प्रयोग किया गया है। मोक्षमार्ग नीतिमार्ग सभी मार्ग है और उनके विपरीत सारा ही उन्मार्ग है। साथ ही दूसरे की शिथिलता के साथ अपनी शिथिलता को भी ग्रहण किया है। अत पर की शिथिलता से लौकिक पक्ष और स्व की शिथिलता से अध्यात्म पक्ष इन दोनो का ग्रहण किया है।

सातवाँ अग वात्सल्य है—वात्सल्य स्नेह को कहते है वात्सल्य का व्यावहारिक पक्ष है अपने वर्ग के लोगों के प्रति सद्भाव बधुता और निश्छलता के भाव रखना या सहधर्मी से इस प्रकार प्रेम रखना जैसे गाय बछड़े से रखती है।

इसमें कमी यह है कि अपने वर्ग पद का स्पष्टीकरण नहीं है सम्यग्दर्शन का वहाँ सब मैत्री का सम्बन्ध है किसी म वर्ग भेद नहीं रहता। दूसरे का हित ने हित की रक्षा करना मैत्री है। यह मैत्री वह बाट पकड़ने म भी रखना चाहता है। अत अपने वर्ग म सम्यक् उन दुखी पुरुषो म होना चाहिए जो दर्शन ज्ञान चारित्र म वचन भूत है। मैत्री रखना अलग बात है और वात्सल्य रखना अन्य बात है। मैत्री जब सब म (सम्यक् मैत्री) होती है और वात्सल्य दुखी पुरुषो म होता है। अत वह म

---

1 गाथा २३४।

है यदि विनष्ट होती तो पुन नही आती । इसलिए आत्मा की शुद्धता भी उसी प्रकार आवृत है, विनष्ट नही है इसलिये आत्मा को सब प्रकार के द्रव्य, भाव और नो-कर्मों से रहित, रूप रस गन्ध वर्ण से, और शब्द से हीन, वाह्य चिन्हो से अग्राह्य चैतन्य गुणवान समझना चाहिए ।

समयसार की तत्व मीमांसा :

समयसार की तत्व मीमांसा उसके नाम से स्पप्ट है उसकी ४१५ गाथाओ मे जिस तत्व का मीमासा की गई है वह कुन्द-कुन्द के ही शब्दो मे इस प्रकार है —

> कम्भ वद्धमवद्धं जीवे एव तु जाण णयपक्ख
> पक्खवातिक्कनो पुण भण्णदि जो सो समयसारो । १४२

अर्थात् जीव की कर्मो से वद्ध या अवद्ध दशा दोनो नय पक्ष है इन दोनों पक्षो मे अतीत जो है वह समय सार है ।

यह पक्षातीत समयसार क्या है इसके समझने मे ही आचार्य कुन्द-कुन्द का समयसार नाम से अथक परिश्रम करना पडा है । जैन दर्शन मे दो ही मौलिक तत्व है एक जीव दूसरा अजीव । दोनो के सम्बन्ध से आश्रव सवर निर्जरा और वन्ध तथा मोक्ष इन पांच तत्वो की व्यवस्था की गई है । इस तरह जैन वाङ्मय मे सात तत्वों को स्वीकार किया गया है और इन्ही मे पुण्य-पापको मिला देने पर नव पदार्थों की कल्पना की गई है । आगम मे लिखा है कि ये सात तत्व प्रयोजनभूत है क्योकि इन्हे बिना जाने आत्मा के स्वरूप का भान नही होता । अत इन सात तत्वो मे आत्मा का क्या स्थान है । इन्हें जानने पर सम्यक्दृष्टि कैसे बना जाता है? सात तत्वों की वास्तविकता क्या है इत्यादि विचारो के अध्ययन से समयसार तत्व की मीमांसा की गई है । यह मीमांसा एक साधारण उपदेश नहीं है ।

जैनागमों में सम्यग्दृष्टि की यह अवस्था चतुर्थगुण स्थान से प्रारंभ होती है जहाँ किसी प्रकार के इंद्रिय संयम या प्राणि संयम की कल्पना नहीं है। किन्तु समयसार का सम्यग्दृष्टि आठवें गुण स्थान से प्रारम्भ होता है जहाँ दोनों प्रकार के संयम तो हैं ही किन्तु ध्यानैकतानता भी है। चौथे आदि गुण स्थान में उक्त अंगों का लौकिक पक्ष प्रधान रहता है और आठवें आदि गुणस्थान में उनका अध्यात्म पक्ष प्रधान रहता है। कुन्दकुन्द का सम्यग्दृष्टि अध्यात्म प्रधानी है अतः अध्यात्म पक्ष तो प्रधान है ही लौकिक पक्ष भी उतना ही छूटा है जितनी लौकिक व्यवहार छूटा है।

इन दोनों पक्षों का वर्णन यहाँ शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार किया गया है। दैनन्दिनी व्यवहार में इन अंगों का सार्वजनिक रूप संक्षेप में हम इस प्रकार समझना चाहिए—

(१) आत्म विश्वासी	आत्मविश्वास के बिना लौकिक और पारमार्थिक कोई काम सम्पन्न नहीं होते पर विश्वास के बिना प्रवृत्ति नहीं होती।
(२) निःस्पृही	स्पृहा एक प्रकार का स्वार्थ है और स्वार्थी होना दुर्गुण है।
(३) सेवा भावी	सेवा में ग्लानि का स्थान नहीं होना चाहिए।
(४) विवेकी	अनुचित प्रशंसा नहीं करना चाहिए और उचित प्रशंसा से नहीं चूकना चाहिए।
(५) गुणग्राही	किसी के दोषों की उपेक्षा कर गुणों को ग्रहण करना चाहिए।
(६) परोपकारी	जान अनजान आने वाले संकटों से यथा शक्ति स्वयं तथा दूसरों को बचाना।
(७) बन्धु प्रेमी	बन्धु प्रेम एक गुण है और विश्व प्रेम का पहला सोपान है।
(८) प्रभावक	स्व पर हितकारी उन्नत प्रवृत्तियों में संलग्न रहना।

सम्यग्दृष्टि में ये गुण होते ही हैं। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि जिसमें उक्त गुण हैं वह सम्यग्दृष्टि होता ही है। किन्तु सम्यग्दृष्टि [illegible] ही है। और इस अंश तक सार्वजनिक दृष्टि से [illegible] है [illegible] का प्रयोजन [illegible] होता जाता है। और अन्त में [illegible] है। सम्यग्दृष्टि का यही जीवन है और सम्यग्दर्शन की यही [illegible] है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने भी अपने १० वें कलश मे आत्मस्वभाव के लिये जो विशेषण प्रयुक्त किये है वे निम्न प्रकार है —परभावभिन्न, आपूर्ण, आद्यन्तविमुक्त, एक, सकल्प विकल्प रहित । पहला विशेषण उसकी अनुपमता को बतलाता है, दूसरा विशेषण उसे विज्ञान घन बतला रहा है, जो उसका ध्रुव स्वभाव है और शेष विशेषण उसकी अचलता को बता रहे हैं । इन्ही सबके स्पष्टीकरण के लिये कहीं वे आत्मा को ज्ञान स्वभाव का समर्थन करते है तो कही उसको अकर्ता, अभोक्ता बताकर उसके एकत्व का प्रतिपादन करते है तो कही रूप, रस, गध, स्पर्श, वर्ग, वर्गणा, स्पर्द्धक बंधस्थान, योगस्थान, सयमस्थान गुणस्थान आदि सभी परभावो का आत्मा मे निषेधकर उसको विभक्त सिद्ध करना चाहते है । अत कहना होगा कि समय सार की तत्त्व मीमासा के आधार मगलगाथा मे प्रयुक्त उक्त तीन विशेषण है जो अभिधेय शुद्ध ज्ञायक स्वभाव आत्मा के एकत्व और विभक्त के समर्थन मे सकेत मात्र है ।

इसी मगलगाथा मे श्रुतकेवली द्वारा प्रतिपादित समयप्राभृत को कहने की प्रतिज्ञा की गई है । जैन परम्परा मे प्रत्येक शास्त्र की प्रमाणिकता के लिये यह आवश्यक है कि उसका आदि स्रोत सर्वज्ञ की वाणी होना चाहिये[1] न कि श्रुतकेवली अथवा अन्य कोई । यह समय सार ही पहला ग्रन्थ है जिसका आदि सबंध श्रुत केवली से जोड़ा गया है । टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र ने यद्यपि इसका अर्थ श्रुत, केवली और श्रुतकेवली कर समय सार को इन तीनो से कथित बतलाया है । लेकिन केवली ने भी पहले श्रुत केवली कथित कहना ग्रन्थ की प्रमाणिकता को बल प्रदान नहीं करता । जब अपनी प्रमाणिकता के लिये स्वय केवली की अपेक्षा रखता है तो वह दूसरे को प्रमाणिकता कैसे दे सकता है । कदाचित् केवली कथित और श्रुत समर्थित [illegible] भी एक बात थी पर केवली ने पहले वह श्रुत कथित है यह विचारणीय ही [illegible] ।

महर्षि ने मंगलगाथा में सिद्धों को नमस्कार किया है और उनके तीन विशेषणों का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं कि ध्रुव अचल और अनुपम गति को प्राप्त सिद्धों को नमस्कार करके मैं श्रुतकेवली कथित समयप्राभृत को कहूंगा। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि शुद्धात्मा के प्रतीक सिद्ध भगवान का स्मरण कराना पाठकों के लिये आवश्यक था। किन्तु ध्रुव अचल और अनुपम गति (दशा) को प्राप्त सिद्ध भगवान को नमस्कार करने से क्या प्रयोजन हो सकता है? गोम्मटसार आदि ग्रन्थों में 'अट्ठविहकम्मवियला'[1] आदि अनेक सिद्ध विशेषणों का उल्लेख किया है और वे बड़े सार्थक तथा अन्ययोग व्यवच्छेदक होने से सिद्धों की ही असाधारण स्थिति को बतलाने वाले हैं। किन्तु ध्रुवता अचलता और अनुपमता के से सिद्धों की वास्तविक स्थिति को बल नहीं मिलता। स्वभाव से [illegible] प्रत्येक द्रव्य ध्रुव है जीव द्रव्य संसारी हो या सिद्ध उसकी ध्रुवता पर कोई आंच नहीं है। पुद्गल धर्म अधर्म आदि द्रव्य भी कभी नष्ट नहीं होते इसलिये ध्रुव हैं साथ ही ये सभी द्रव्य अपनी इयत्ता को नहीं छोड़ते इसलिये अचल भी हैं। और एक का दूसरे की उपमा नहीं है इसलिये अनुपम भी है। तत्वार्थ सूत्र में 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' कहकर प्रत्येक द्रव्य को नित्य और अवस्थित बतलाया है। नित्य का अर्थ ध्रुव और अवस्थित का अर्थ अचल साधारण व्यक्ति भी समझ सकता है। उक्त सूत्रार्थ में यह अन्तर नहीं है कि सिद्ध जीव तो नित्य और अवस्थित हैं किन्तु संसारी जीव नित्य और अवस्थित नहीं हैं। नित्यता अस्तित्व गुण का फल है और अवस्थितता अगुरुलघु गुण का फल है। ये दोनों गुण संसारी जीव तथा सिद्ध जीव में विद्यमान रहते हैं अतः उनकी ध्रुवता अचलता में कोई अन्तर नहीं है। [illegible] विशेषणों का महत्व उस अभिप्राय की तरह है जिसकी वे आगे प्रतिज्ञा करेंगे। गाथा क्रमांक ५ में उन्होंने एक ओर विभक्त आत्मा को दिखाने की प्रतिज्ञा की है उसके बाद आत्मा में प्रमत्त दशा का निराकरण करते हुए दर्शन ज्ञान चारित्र रूप भेद बुद्धि का भी निराकरण किया है और लिखा है वह केवल ज्ञायक स्वभाव है अन्य कुछ नहीं है। मंगल गाथा में ध्रुव विशेषण आत्मा [illegible] ज्ञायक स्वभाव को बतलाने के लिये दिया है। अचल विशेषण उसमें [illegible] और [illegible] के निराकरण द्वारा एकत्व[2] में स्थापन के लिये दिया है। और अनुपम विशेषण [illegible] विभक्त एकत्व दर्शाने के लिये दिया है। [illegible] समयसार में [illegible] [illegible] की भावना को सिद्ध करना आचार्य का उद्देश्य रहा है। [illegible]

---

[1] अट्ठविहकम्मवियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा॥ गो० जी०

[2] वस्तु में दो विरोधी धर्म होने पर भी वह भी [illegible] एकत्व [illegible] है। [illegible] है और [illegible] स्वभाव में [illegible] है।

उत्तर उन्होने समयसार की ६ और १० इन दो गाथाओ मे दिया है[1]। वे इन गाथाओ मे कहना चाहते हैं कि 'श्रुत केवली' का परमार्थ से यह अर्थ है 'जो श्रुत के द्वारा केवल आत्मा को जानता है वह श्रुत केवली है' लेकिन यह परमार्थ उक्त कथन के द्वारा ठीक प्रतिपादित नही होता। क्योकि आत्मा का ज्ञान आत्मा से ही हो सकता है तब श्रुत से आत्मा का ज्ञान होना परमार्थ नहीं कहा जा सकता। अत जब हम व्यवहार से 'श्रुत केवली' का अर्थ यह करते हैं कि जो समस्त श्रुत को जानता है वह श्रुत केवली है तब हम उसे तुरन्त यह परमार्थ समझा सकते है कि सब ही ज्ञान आत्मा है अनात्मा नही है श्रुत ज्ञान भी ज्ञान है अत जो सम्पूर्ण श्रुत को जानता है वह आत्मा को ही जानता है। यह उस व्यवहार से परमार्थ का समझना हुआ। अत. व्यवहार, परमार्थ का प्रतिपादक है यह बात सिद्ध होती है।

इस कथन से यह निष्कर्ष निकला समस्त श्रुत मे कथन शैली व्यवहार से प्रभावित है और उसके परमार्थ को समझाया गया है। समयसार भी श्रुत का अंश है और ब्राह्मण द्वारा म्लेच्छ भाषा के प्रयोग की तरह उसमे व्यवहार से परमार्थ का प्रतिपादन किया गया है अत श्रुत के कर्ता श्रुत केवली द्वारा कथित समय सार को बताने के लिये 'सुय केवली भणिय' पद का प्रयोग किया है।

समय सार मे नयो के सहारे आत्म तत्व का विवेचन किया गया है। तत्व जिज्ञासुओ को निश्चय दृष्टि देने की अपेक्षा रखते हुए भी आचार्य कुन्द-कुन्द ने कहीं व्यवहार दृष्टि का परित्याग नहीं किया है। इसलिए जब जैसी आवश्यकता हुई है उन्होंने व्यवहार दृष्टि को भी जिज्ञासुओ के सामने रखा है। दोनों नयो मे सतुलन रखते हुए परमार्थ को समझने की उनकी उत्कट इच्छा है। अत सारा समयसार सापेक्ष दृष्टि से लिखा गया है। प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान को विषकुंभ बता देना [illegible] को [illegible] बता देना, ये सब आपेक्षिक दृष्टि (नय दृष्टि) ही तो सारी है। [illegible] विरोध होना अनिवार्य हो जायेगा। यह आपेक्षिक या नय दृष्टि [illegible] [illegible] विरुद्ध है जिसके कर्ता श्रुत केवली हैं अर्थ के विरुद्ध नहीं [illegible]। इसलिये भी समय सार को 'श्रुत केवली भणित'

पर अभूतार्थ है। इसलिये भूतार्थ नय से इन नव तत्वो मे एक जीव और अजीव मे विवेक कर जीव स्वरूप आत्म तत्व को ही ग्रहण करना चाहिये।

इन दोनो की एकता का भ्रम अज्ञानी जीव को अनेक प्रकार से होता है। प्रत्यक्ष मे इन्हे दो द्रव्य मानकर भी यह जीव को अजीव का कर्त्ता मान लेता है और अजीव को जीव का कर्म मान लेता है। समयसार की तत्व मीमासा कहती है कि कर्त्ता और कर्म दो पृथक् वस्तु नही है। प्रत्येक द्रव्य स्वभाव से परिणमन करता है अतः द्रव्य का अपना-अपना जो परिणाम है वही उसका कर्म है और द्रव्य उस परिणाम का कर्त्ता है। और परिणति उसकी क्रिया है।[1] एक ही परिणमन करता है सदा एक के ही परिणाम होता है और एक ही परिणति होती है। इस तरह अनेक होकर भी वह एक ही है[2] दो एक होकर परिणमन नही करते दो का एक परिणाम नही होता और न दो की एक परिणति होती है जो अनेक है वे अनेक ही हैं एक नही हो सकते।[3]

इस प्रकार एक कर्म के दो कर्त्ता नही होते और एक कर्त्ता के दो कर्म नहीं होते। एक की दो क्रियायें नही होपी क्योकि एक अनेक नही होता है।

सार यह है कि आत्मा का कर्तृ कर्म सम्बन्ध अपने ही साथ है पर के साथ नही है। मृत्तिका और घट क्रमश कर्त्ता और कर्म है कुम्भकार और घट कर्त्ता कर्म नही है। प्रत्येक द्रव्य का उसका उपादान ही कर्त्ता हो सकता है निमित्त कर्त्ता नहीं है। निमित्त सदा पर होता है। आत्मा अन्य द्रव्यो की तरह स्वतन्त्र एक पदार्थ है। उसका पर के साथ कोई सबध नही है तब कर्तृ कर्म सबध भी नही है। अत यह मानना कि आत्मा कर्मो का कर्त्ता है अथवा उसके फल का भोक्ता है उचित नहीं है। इन दोनों मे विवेक लाकर आत्मा को ही उपादेय मान कर्म से उदासीन हो जाना चाहिये।

रहा है। श्रुत केवली कथित कहने में आचार्य का इतना ही अभिप्राय रहा है। गुरु के संबंध का द्योतक उक्त वाक्य नहीं है।

साधारणतया ग्रन्थ रचना के समय प्रारम्भ में इष्ट देव को नमस्कार की पद्धति है और कुन्दकुन्द ने भी उस पद्धति को अपनाया है पर अपनी मौलिक रचना विशेष को अमुक के द्वारा कथित किसी ने नहीं लिखा। जिन्होंने लिखा है उनके निर अनुसार अनुसारी आदि ग्रन्थ ही मिलते जुलते पदों का प्रयोग किया है। किन्तु कुन्दकुन्द द्वारा अपने ग्रन्थ को श्रुतकेवली कथित बताने का रहस्य यही है कि उसका साक्षात संबंध श्रुत से है। वह श्रुत पाँचवा ज्ञानप्रवाद पूर्व है। हो सकता है कि उसमें कुछ गाथाएं या अधिकांश गाथाएं उसी पूर्व की हों। गोम्मटसार को महत् सूत्र इसलिए कहा है कि उसकी बहुत-सी गाथाएं इतनी प्राचीन हैं कि उनके उद्गम स्रोत का कहीं पता ही नहीं चलता। यहाँ भी इस प्रकार एक ही मंगल गाथा में उन्होंने नमस्कार के साथ अभिधेय और संबंध की व्यवस्था की है साथ ही सिद्ध रूप से साध्य आत्मा की ओर निर्देश कर ग्रन्थ का प्रयोजन भी स्पष्ट कर दिया है।

ऊपर जिन सात तत्वों का हम निर्देश कर आये हैं उनमें असली आत्मतत्व की खोज निकालना आचार्य का उद्देश्य है। इसलिए प्रत्येक तत्व को बारी-बारी से लेकर आचार्य ने उस पर विचार किया है और उसकी अयथार्थता तथा अभूतार्थता का निर्देश करते हुए आत्मा को उन सबसे पृथक् बताया है। जीव तत्व तो आत्मा का बोधक है ही फिर भी जीव और आत्मा में अन्तर है। जीव से जीवन का बोध होता है और जीवन मरण से सापेक्ष हैं किन्तु जिसमें जीवन मरण दोनों नहीं है वह आत्मा है। व्यवहार से चार प्राणों से जीवन को अपना और निश्चय से चैतन्य प्राणों को धारण कर जो जीता है वह आत्मा है। अजीव तत्व में भी जीव को (आत्मा को) समझने की आवश्यकता है। जीव को बिना समझे उसका प्रतिपक्षी अजीव भी नहीं समझा जा सकता अतः अजीव कहने में जीव का ही पहले बोध होता है। आस्रव तत्व भी तब तक प्रतिपाद्य नहीं है जब तक आस्राव्य (कर्म) और आस्रावक (आत्मा) को न समझ लिया जाय इसलिए इस तत्व में भी आत्मा ही एक दिशा बोध है। बंध तत्व में भी बध्य और बंधक को समझना चाहिए। यहाँ भी बंधक आत्मा ही है। संवर तत्व में भी संवार्य और संवारक की पहचान करना आवश्यक है। इन में संवारक आत्मा ही है। मोक्ष तत्व भी मोच्य मोचक की ओर संकेत कर रहा है। इसमें भी एक आत्मा है। पुण्य पाप में भी विकार्य और विकारक का संबंध है इनमें विकार्य आत्मा है और विकारक पुण्य पाप है। इनके समावेश से ही ये सात तत्व तथा पुण्य पाप ये मिलाकर नौ पदार्थों का निर्माण हुआ है ये दो जीव अजीव हैं। व्यवहार दृष्टि से नौ तत्व जीव पुद्गल की अनादि बंध पर्याय को लेकर एक अनुभव होते हैं अतः भूतार्थ हैं। किन्तु एक जीव द्रव्य स्वभाव को लेकर अनुभव करने

रूप प्रतीत होते थे। किन्तु अपनी चैतन्य शक्ति से स्वसवेदन के द्वारा इनका परस्पर असग ज्ञानकार अपने चैतन्य भाव को जिसने जुदाकर लिया है वही जितेन्द्रिय है।

मतलब यह है कि इन्द्रिया पर पदार्थ है अत' यह ज्ञेय है आत्मा के साथ इनकी निकटता के कारण-ज्ञान और ज्ञेय मिले हुए से प्रतीत हो रहे थे ईन दोनो को पृथक् कर जो ज्ञान स्वभाव आत्मा को ग्रहण करता है वही इन्द्रियो का जीतता है। अत इस प्रकार की स्तुति केवली भगवान की निश्चय स्तुति है।

यहा ज्ञेय ज्ञायक सकर दोप के परिहार की आवश्यकता यह है कि इन्द्रिया पर है उनको जीतना पर को जीतना है। जीते हुये पदार्थ को अपने अनुकूल कर लिया जाता है। इन्द्रियो को अपने अनुकूल करना या तो स्वय अचेतन बन जाना है अथवा इन्द्रिया चेतन बन जायगी। तब वह निश्चय स्तुति कहा रही। इसलिये इनको जीतने का अभिप्राय यह है कि ये ज्ञेय है और आत्मा ज्ञायक है। इनका परस्पर साकर्य नहीं है प्रत्युत्र पार्थक्य है अत ज्ञेय ज्ञायक सकर दोप के परिहार में ही निश्चय स्तुति बन सकती है। यही ज्ञेय ज्ञालक सकर दोप का परिहार है।

भाव्य भावक संकर दोपः- इसका उदाहरण इस प्रकार दिया है। "जो मोह को जीतकर ज्ञान स्वभाव विशिष्ट आत्मा को जानता है उसको परमार्थ को जानने वाले जितमोह साधु कहते हैं।" यहा मोह कर्म का विपाक भावक है और उसके अनुसार प्रवृत्ति करने वाला आत्मा भाव्य है। जब यह साधु श्रेणी आरोहण करता है तब मोह का विपाक (उदय) न रहने से यह अपने ज्ञान स्वरूप आत्मा का ही अनुभव करता है। उसके पहले मोह (भावक) के अनुसार जो आत्मा (भाव्य) की प्रवृत्ति थी उसी को यह आत्मा अनुभव करता था। अत भाव्य भावक की

जीव के वर्णादि, कर्म नोकर्म व्यवहार से कहलाते है निश्चय से नही इसके समर्थन मे आचार्य कहते है कि जैसे मार्ग मे किसी पथिक को लुटता हुआ देखकर व्यवहारी जन कहते है कि 'यह मार्ग लुटता है' वैसे ही जीव मे कर्म, नोकर्म, वर्णादि को देखकर व्यवहार से कहा जाता है कि ये वर्णादि जीव के है। निश्चय से जैसे मार्ग नही लुटता वैसे ही वर्णादिक संसारी जीव के नही होते।

इस तरह कुन्दकुन्द के पास उदाहरणो की कोई कमी नही है और अपने इस अनुभव को कि व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश नही हो सकता उन्होंने विषय के समर्थन मे व्यावहारिक दृष्टान्तो को देकर भले प्रकार सिद्ध कर दिया है। केवल शास्त्र की बातें श्रद्धा से ही मानी जाती है पर जब अनुभव के समर्थन मे दृष्टांत भी होता [illegible] श्रद्धा तर्क से समन्वित होकर उल्लास मे प्रस्फुटित होती है। समयसार को [illegible] पद-पद पर इसी प्रकार का उल्लास होता है।

कुन्दकुन्द ने काम भोग की बंध कथा के बारे मे कहा है कि वह सभी संसारी [illegible] श्रुत परिचित और अनुभूत है मानो इसकी प्रतिक्रिया मे वे आत्मा की [illegible] भी सबको श्रुत परिचित और अनुभूत करा देना चाहते है। [illegible] पाठक को उसे श्रुत करा देना चाहते हैं, जब [illegible] परिचित करा देना चाहते है और जब उदाहरण देकर [illegible] अनुभूत करा देना चाहते है। इस प्रकार आत्मा के [illegible] उनकी अपनी इसी नीति के आधार पर [illegible]

विषय विवेचन की पद्धति का इस प्रकार विकास हो चुका था यह आश्चर्य का विषय है। आत्मा को एक ओर विभक्त बताने में सचमुच कुन्दकुन्द ने अपने वैभव की बाजी लगादी है और कोई बात ऐसी नहीं छोडी जो उक्त विषय के समर्थन में कहना चाहिए था किन्तु नहीं कही। कोई भी समर्थन बिना तर्क के नहीं है और कोई भी तर्क बिना आधार के नहीं है और कोई भी आधार समझ के बाहर का नहीं है। प्रारंभ में ही वे आत्मा में ज्ञान-दर्शन चारित्र का निषेध करते हैं और लिखते हैं कि आत्मा में इनका उल्लेख व्यवहार से है परमार्थ से नहीं। तुरन्त शंका उठती है कि फिर एक परमार्थ का ही उपदेश करना चाहिए था व्यवहार की बात क्या कहते हैं? कुन्दकुन्द समाधान करते हैं कि ब्राह्मण म्लेच्छ भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहता पर म्लेच्छ को समझाने के लिए उस भाषा का अवलम्बन लिए बिना रहा भी नहीं जाता। उसी प्रकार व्यवहार के कहने की आवश्यकता नहीं है पर व्यवहार से परमार्थ समझाने के लिए व्यवहार कथन कहे बिना रहा नहीं जाता। अतः परमार्थ के कहने के लिए व्यवहार की आवश्यकता है।

कुन्दकुन्द के इस उत्तर में पर्याप्त वजन है सुन्दर तर्क है और आगे उत्तर के लिए कोई अवकाश नहीं है। इस प्रकार जहां कहां उन्होंने तर्क प्रयोग किये हैं वे अपने आप में बड़े अकाट्य हैं। सारा ग्रन्थ इस प्रकार के सुन्दर तर्कों से भरा पड़ा है।

ग्रन्थ में अपने प्रत्येक कथन के साथ उन्होंने बड़े सुन्दर दृष्टान्त दिये हैं। कोई कथन उनकी इस सुन्दरता से शून्य नहीं है।

जब वे कहते हैं कि साधु को दर्शन ज्ञान चारित्र का सेवन करना चाहिए क्योंकि इन तीनों का नाम ही आत्मा है तब इस कथन को वे दृष्टान्त द्वारा यों समझाते हैं —जैसे कोई धनार्थी पुरुष राजा को जानकर उस पर श्रद्धा करता है और उसके अनुसार आचरण करता है वैसे ही मोक्षार्थी को इस आत्मा रूपी राजा को जानकर उस पर श्रद्धा कर उसका आचरण करना चाहिए।

ज्ञानी को आत्मा से भिन्न पदार्थों को नहीं अपनाना चाहिए। इसके उदाहरण में कुन्दकुन्द कहते हैं कि जैसे कोई पुरुष यह दूसरे की वस्तु है ऐसा जानकर तुरन्त उसे छोड़ देता है वैसे ही ज्ञानी पर भावों को पर जान कर तुरन्त छोड़ देता है।

आत्मा में अध्यवसानादि भावों को जीव कहा जाता है वह व्यवहार से ही है। [illegible] में तो यही जीव लगता है, अध्यवसानादि सब भाव जीव नहीं हैं। अपने इस कथन को समझाने के लिए कुन्दकुन्द कहते हैं कि जैसे कोई राजा सेना सहित [illegible] से निकलता है तो व्यवहार से कहा जाता है कि राजा निकला पर वास्तव में राजा तो एक ही है, अन्य सब तो सेना का [illegible] है अतः उस सेना समूह में [illegible] का ग्रहण व्यवहार से होता है वैसे ही अध्यवसानादि भावों में [illegible] है। [illegible] दोनों पृथक्-पृथक् हैं।

[illegible] के लिये ब्रेक के उपयोग को भी नही भूला जाता है । दोनो पर उसकी दृष्टि रहती है । आचार्य कुन्दकुन्द निश्चय प्रधान अध्यात्म गाडी के कुशल चालक है जो गाडी को सपाटे से दौडाते है पर व्यवहारनय के ब्रेक को भी नही भूलते, और समय पर उसका उपयोग करते है । समयसार मे व्यवहार दृष्टि सर्वत्र उस ब्रेक का काम करती है । आचार्य अपने निश्चय प्रधान वक्तव्य को बे-रोक टोक कहते चले जाते है और जब वह वक्तव्य अपनी चरम सीमा पर पहुच जाता है तो एकान्त की निवृत्ति के लिये तुरन्त वे व्यवहार पर आ जाते है और आगम का समन्वय करते हुए पाठक को अनेकान्त दृष्टि देते है । उनका समयसार अनेकान्त की प्रयोगशाला है और दोनो नय उस प्रयोगशाला के साधन है । आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार को इसी रूप मे आंका है । उन्होने समयसार के प्रारम्भ मे अनेकान्त को नमस्कार करते हुए लिखते है—
'आत्मा सबसे भिन्न तत्त्व है फिर भी वह अनन्त धर्मा है । इस रहस्य को देखने वाली अनेकान्तमयी मूर्ति नित्य प्रकाशित रहे ।' अपने इस कथन के समर्थन मे उन्होने अनेक स्थलो पर 'उभयनयायत्ता हि पारमेश्वरी देशना' अर्थात् भगवान की आज्ञा दोनो नयो के आधीन है । आदि वाक्यो का उल्लेख किया है । आचार्य कुन्द-कुन्द इस पारमेश्वरी देशना के [illegible] चलते है । और अपने कथन मे कही विरोध नही आने देते ।

मान्य रागी को जड़ता और विरागी को दृढ़ता। समयसार का प्रत्येक पद्य बहु चर्चित है। विषय विशुद्ध आध्यात्मिक होकर भी दार्शनिक शैली पर रचा गया है। श्रद्धा और तर्क में कहीं विरोध नहीं आता। विषयान्तर को कहीं अवकाश नहीं है। कभी-कभी विषय वर्णन में पुनरुक्तता का आभास होता है। पर वस्तुतः वह पुनरुक्तता नहीं है। प्रकरणानुसार उसका कहना अनिवार्य हो गया है। यह ग्रन्थ की रचना ऐसी हो है कि पाठक विषय को पढ़ते हुए ऊबता नहीं है।

तो व्यक्ति की सभी प्रवृत्तियों का प्रभाव समाज पर पड़ता है। व्यक्ति तपोवन में रहे या महलों में समाज से उसका सम्बन्ध विलग नहीं होता। यह ठीक है कि वह समाज के सम्पर्क में नहीं रहता सामाजिक बन्धन उस पर लागू नहीं रहते उसका अभिप्राय इतना ही है कि वह संसार से विरक्त है समाज से नहीं। समाज द्वारा होने वाली सांसारिक प्रवृत्तियों से उसका सम्बन्ध नहीं रहता लेकिन समाज में तो रहना ही है। समाज उसका दर्शन स्पर्शन श्रवण कर अनुप्राणित होता है और समाज से वह उत्साह प्रेरणा प्राप्त करता है।

जैन शास्त्रों के अनुसार तीर्थंकरों को वैराग्य के समय लौकान्तिक देव ही प्रेरणा देते हैं। अब भी जो लोग सन्यास या दीक्षा लेते हैं जन साधारण द्वारा उनका जय जयकार अनुगमन उनकी विरक्ति के लिए प्रेरक सिद्ध होता है। अतः व्यक्ति और समाज एक दूसरे से सम्बन्धित है। यहाँ हम इसी सम्बन्ध में थोड़ा प्रकाश डालेंगे।

व्यक्ति और समष्टि का स्थान

व्यष्टि का मतलब इकाई है और अनेक इकाइयाँ मिलकर समष्टि का रूप लेती है। अतः व्यष्टि एक व्यक्ति है और समष्टि उनका समूह एवं समाज है। व्यक्ति की स्थिति समाज के सामने अत्यन्त साधारण है फिर भी वह इतने अधिक उत्तरदायित्व को लिए हुए होता है कि समाज उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता है। कल्पना कीजिए सौ नए पैसे एक रुपये का निर्माण करते हैं। एक रुपये की गणना में एक पैसे का कोई महत्व नहीं है फिर भी यह उस एक पैसे का दायित्व है कि ९९ पैसों को रुपया नहीं होने देता। जहाँ सौ पैसों से ही काम निकल सकता है वहाँ उस एक पैसे के बिना वह काम नहीं हो सकेगा। अतः रुपये को अपनी स्थिति कायम रखने के लिए एक पैसे की उपेक्षा नहीं करनी होगी। व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध भी इसी प्रकार है। जब व्यक्ति समाज का निर्माण करते हैं तब सामाजिक स्थिति कायम रखने के लिए व्यक्ति की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। व्यक्तियों का विघटन समाज का विघटन है व्यक्तियों का सृजन समाज का सृजन है। इसी तरह व्यक्ति को समाज की उससे भी अधिक आवश्यकता है। समाज के बिना व्यक्ति की स्थिति भी क्या हो सकती है। एक अकेला पैसा यदि अन्य सब पैसों के साथ न मिले तो वह एक प्रकार से अव्यवहार्य ही है न उससे कुछ खरीदा जा सकता है न कुछ दिया जा सकता है। उसे अपनी उपयोगिता बढ़ाने के लिए दूसरे पैसों के साथ रहना ही चाहिए। सौ पैसों के साथ रहकर एक पैसे का अभाव खटक सकता है। लेकिन अकेले में हो सकता एक ही हो तो उसका अभाव पूरा अर्थ नहीं रखता। व्यक्ति भी समाज के साथ रहकर ही अपनी उपयोगिता बना सकता है। समाज की [illegible]

प्रलयकाल मे यह चराचर जगत् की समष्टि एक ब्रह्म व्यष्टि मे लीन हो जाती है जिसे ब्रह्मा की रात कहते है। जब पुन हिरण्यगर्भ बहुत बनते है तब अनेक जगम स्थावर जीवो की पुन उत्पत्ति होती है। यो व्यष्टि जब समष्टि का निर्माण करती है तब यह ब्रह्मा का दिन कहलाता है।

दिन जाग्रत काल है और रात्रि सुषुप्ति काल है। जाग्रत अवस्था के श्रम को दूर करने के लिये जैसे मनुष्य रात्रि को विश्राम करता है वैसे ही समष्टि जीवन से ऊबकर मनुष्य व्यष्टि की ओर आता है। यह व्यष्टि की ओर आना ही इसका वैराग्य या ससार से निर्वृत्त अथवा आध्यात्मिक जीवन की ओर आना है।

समष्टि से व्यष्टि की ओर

मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह सासारिक कष्टो से यथाशक्ति बचना चाहता है। अन्तरग की मोह ममताए उसे उन कष्टो की ओर ले जाती है पर ज्यो ही उसे उद्बोध होता है वह तुरन्त उस स्थान की खोज करने लगता है जहा ये सासारिक कष्ट न हो। ज्ञान न होने से सुख के नाम पर वह ऐसी स्थिति को अपना लेता है जो पहले से भी अधिक दुखकर होती है पुन उसे बदलकर वह तीसरे स्थान की खोज करता है किन्तु अज्ञान के कारण उसकी पहली जैसी ही दशा होती है। [illegible] जीवन मे ऐसे अनेक बार ऐसे प्रसग आते हैं। इन बार-बार के

तपस्वी जीवन सामाजिक स्थिति से कितना घनिष्ठ सबंध है इसका उदाहरण एक और देखिये। जैन शास्त्रों मे साधु के लिये छह अन्तरंग तपों मे एक वैयावृत्य नाम का तप भी बताया है। वैयावृत्य का अभिप्राय है साधु सेवा। सापेक्षता के भेद से इस सेवा के भी दस भेद किये हैं। ये भेद निम्न प्रकार है —आचार्य वैयावृत्य, उपाध्याय वैयावृत्य, तपस्विवैयावृत्य, शैक्ष्यवैयावृत्य, ग्लानवैयावृत्य, गणवैयावृत्य, कुलवैयावृत्ति, संघ वैयावृत्य, साधु वैयावृत्य, मनोज्ञ वैयावृत्य।[1] ये वैयावृत्य एक प्रकार का सामाजिक रूप ही है। सेवा करना बगैर समाज में रहे बिना हो नहीं सकता। वह समाज गृहस्थ समाज हो या साधु समाज अन्तत वह समाज ही है। साधु यदि अपने समुदाय के साथ ही नहीं रहता तो उसका साधु जीवन ही संकटापन्न हो जाता है क्योंकि जिनका एकाकी जीवन होता है वे भी अपना समुदाय (समाज) बनाकर विचरते हैं और संकटापन्न स्थिति में शत्रु का मिलकर सामना करते हैं।

तपस्वी आराधना में जिनकल्पी साधु के अतिरिक्त अन्य किसी भी साधु का एकाकी रहने का आदेश नहीं है। और साधु के संयम के विनाश के भय से यहां तक लिखा है कि एकाकी क्षण भी विहार न करे। इस प्रकार तपस्वी जीवन में साधु के लिए सामाजिक स्थिति की किस प्रकार अनिवार्यता स्वीकार की गई है यह उपयुक्त कथन से सिद्ध है।

सब प्रकार की इच्छाओं से रहित भगवान जिनेन्द्र का विहार भी उस ओर ही होता है जिस ओर बहुजन समाज का भाग्य प्रबल होता है। तीर्थंकर प्रकृति (कर्म) का विपाक समाज का धर्मोपदेश के देने में ही होता है। और समाज के उत्कट कल्याण की भावना से ही तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है।

शरीर में [illegible] का जो स्थान है समष्टि में व्यक्ति का वही स्थान है। अनेक व्यष्टियां समष्टि का निर्माण करती हैं और समष्टि में प्रत्येक व्यष्टि अन्तर्निहित होती है। इस प्रकार व्यष्टि समष्टि को नहीं भुला सकती और समष्टि व्यष्टि को नहीं त्याग सकती।

वैदिक मान्यता है कि सर्व प्रथम एक हिरण्यगर्भ ही था।[3] उसने जब यह इच्छा की कि मैं एक से अनेक हो जाऊं तो उसने अनेक प्रकार के जीवों को उत्पन्न किया। श्रुति का यह कथन इस समर्थन के लिए पर्याप्त है कि व्यष्टि किस प्रकार समष्टि में पुनः मिलकर रहना चाहता है।

---

१ [illegible] का सूत्र कहना है।

२ आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम्।
त० सू० अ० ९ सूत्र।

३ हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे [illegible] ऋग्वेद।

ही लाभ मिलता हो समाज को नही। और जो व्यक्तित्व समाज के लिये उपयोगी नहीं है वह व्यर्थ है।

तीर्थंकर के जन्म से त्रिलोक का क्षुब्ध होना लिखा है —घटानाद, सिंहनाद, शखनाद, भेरीनाद आदि विश्व के विभिन्न स्थानो मे होने लगते हैं यह सब उनकी पूर्व जन्म की साधना का ही फल है। इसके बाद आस्थायिका का निर्माण, उनमे १२ प्रकार की सभाओ द्वारा तीर्थंकर का धर्मोपदेश श्रवण, पुष्पवृष्टि, अन्तरिक्ष मे जय-जय कार आदि उनकी साधना से ही सबध रखती है। अत व्यक्तिगत साधना व्यक्ति के ही लिये नही है प्रत्युत समाज के लिये भी है। साधक का अपना जो कुछ है समाज ही उसका उत्तराधिकारी होता है।

तपोवन में एकान्त सेवन के लिए चल गये। ये सब उदाहरण इस बात के साक्षी हैं कि मनुष्य समष्टि का अंग होकर सुखी नहीं होता। इस तरह अपना वीतरागी जीवन व्यतीत करता है। अब देखना यह है कि इस वीतराग जीवन में क्या आनन्द क्या है? जिसमें वह इधर आकर्षित होता है। इसका उत्तर यह है कि जीवन में जब किसी पदार्थ से राग होता है तब उसके विच्छिन्न विनष्ट या विघ्नित होने पर उसके कारणों से द्वेष होना अवश्यंभावी है। यही दुःख का कारण है। हम अपने कुटुम्ब सखा और मित्रों के दुःख में जिस प्रकार चिन्तित होते हैं उस प्रकार सब साधारण के लिये नहीं। इसका स्पष्ट कारण उनसे राग है। तथा उन कुटुम्बी और मित्रों पर जो आक्रमण करता है और उन्हें कष्ट देता है उनसे प्रतिक्रिया की भावना रखते हैं अन्य से नहीं क्योंकि उससे द्वेष है। ये राग द्वेष मानसिक क्षोभ पैदा करते हैं। क्षोभ से परिणाम संक्लिष्ट रहते हैं। इससे दुःख होता है। इस दुःख से मनुष्य बचना चाहता है उसका एक ही मार्ग है कि वह राग द्वेष का परित्याग कर दे। जब राग द्वेष नहीं होंगे तो अपने संबंधी कुटुंबी और मित्र भी उसी श्रेणी में हो जायेंगे जिस श्रेणी में संसार के अन्य प्राणी उसके लिए हैं। तब उसे उन कुटुम्बियों की चिन्ता का भार नहीं उठाना पड़ेगा जिसके कारण संक्लिष्ट और दुःखी रहना था। इस राग द्वेष के छोड़ने का अभिप्राय ही यह है कि उसे अब समष्टि से कोई लगाव नहीं रहा और वह व्यष्टि के रूप में ही अपना जीवन व्यतीत करता है।

जैन शास्त्रों मे बारह अनुप्रेक्षाओं (भावनाओं) का वर्णन है। उसमें एक एकत्व अनुप्रेक्षा भी है जिसका तात्पर्य है कि मैं अकेला ही जन्म लेता हूं अकेला ही मरता हूं अकेला ही दुःख सुख भोगता हूं, मेरा साथी अथवा सगा संबंधी कोई नहीं है। इस प्रकार वैराग्यवान् को चाहिये कि वह सदा अपने को एकाकी अनुभव करे। यह एकत्व भावना मनुष्य को व्यष्टि की ओर ही ले जाती है। इसी प्रकार समष्टि से असंगाव के लिए अन्यत्व भावना है। जिसका तात्पर्य है कि मैं पुद्गल परिजन यहां तक कि अपने शरीर से भी पृथक् हूं। पत्नी पुत्र मित्र आदि स्वार्थ पूर्ण हैं व मेरा कोई नहीं है। रात्रि को जिस प्रकार पक्षी विभिन्न दिशाओं से आकर एक वृक्ष पर विश्राम करते हैं और प्रातः होते ही वे अपने-अपने अभीष्ट स्थान को उड़ जाते हैं उसी प्रकार एक कुटुम्ब रूपी वृक्ष में अनेक योनियों से आकर प्राणी एक दूसरे के पत्नी पुत्र भाई बहन बन जाते हैं और जीवन समाप्त होने पर विभिन्न योनियों में जाकर जन्म ले लेते हैं। जैसे उन पक्षियों का परस्पर कोई संबंध नहीं होता वैसे ही इन कुटुम्बी जनों का परस्पर कोई संबंध नहीं है।

उक्त भावनाएँ और विचार व्यष्टि को समष्टि से पृथक् कर देते हैं। इस स्थिति का यही उपाय है कि मनुष्य समष्टि से व्यष्टि की ओर आवे।

राग से दुःख और विनाश क्या होता है? क्या यह मानसिक क्षोभ [illegible] है? इसका उत्तर यह है कि हम जिसमें अनुराग है उस ओर खिंचे रहते हैं [illegible]

अपनी प्रतिभा का उपभोग करना दान करना व्यक्ति की अपनी स्वतन्त्रता होना चाहिए। जैसे किसी स्वस्थ पुरुष को उसकी पुंस्त्व शक्ति के उपयोग के लिये सन्तानोत्पत्ति करने को बाध्य नहीं किया जा सकता, वैसे ही किसी प्रकार की प्रतिभा के उपयोग के लिये व्यक्ति को बाध्य नहीं किया जा सकता। दूसरी बात यह है कि भौतिक विद्या की प्रतिभा थी वह यदि अन्तर्मुखी होकर आध्यात्मिक प्रयोगों की ओर मुड जाती है तो वह भी प्रतिभा का उपयोग ही है। उसे यह क्यों कहा जाता है कि वह प्रतिभा का उपयोग नहीं है।

आध्यात्मिक प्रवृत्ति को जब हम यह मानकर चलते हैं कि वह महत्त्व हीन है तभी हम इस प्रकार के तर्कों को उपस्थित करते है। अन्यथा दो समानान्तर प्रतिभाओं का उपयोग व्यक्ति कहीं भी करे हमें उसमें आपत्ति नहीं होना चाहिए।

भारतीय ऋषियों ने परा और अपरा दोनों विद्याओं को महत्त्व दिया है। क्योंकि अपने अपने स्थान पर दोनों की आवश्यकता है। जिसकी जिधर रुचि है उसे उधर गमन करने देना चाहिए।

कर रखना कि ये आध्यात्म की आराधना करते हैं। ये कुछ तर्क हैं जिनके आधार पर आध्यात्मिक जीवन को एकांकी मानकर निषेध किया जाता है। यहाँ इन तर्कों पर ही थोड़ा हम विचार करेंगे और देखेंगे कि इनमें वास्तविकता कहाँ तक है।

मनुष्य स्वभाव से ही लौकिक प्रवृत्तियों में हाथ बटाता है विज्ञान हो भूगोल हो इन प्रवृत्तियों में सबके ही लिये स्थान है। खाना पीना पहनना ओढ़ना इनके लिये शिक्षण संस्थाएं नहीं हैं। जन्म जन्मान्तर के इस प्राणी के संस्कार ही ऐसे हैं कि जिस योनि में वह जन्म लेता है उसके सभी पर्याय धर्म इसमें उद्भूत हो जाते हैं। नवजात शिशु को दूध पीना कोई सिखाता नहीं है किन्तु संस्कारजन्य वह प्रवृत्ति उसमें विद्यमान है जब जब वह स्तन्यपान करने वाले जीवों में उत्पन्न होगा तब तब वह स्वतः दूध पीने लगता है। कुत्ते आदि पशु पानी में तैर जाते हैं यह भी उन्हें कोई सिखाता नहीं है किन्तु संस्कार जन्य हैं। प्रत्येक जीव के साथ आहार निद्रा भय मैथुन लगे हुए हैं। ये सब भी उनमें बिना सिखाये मात्र संस्कारों से ही आते हैं। अतः लौकिक प्रवृत्तियों से यह जीव स्वतः ही विचरता है। इसी तरह डाक्टरी इन्जीनियरिंग आदि विद्याएं भी लौकिक प्रवृत्तियाँ ही हैं। यद्यपि इनकी शिक्षाएं दी जाती हैं पर वे उन्हें ही उद्भूत होती हैं जिनके इस प्रकार के पूर्व संस्कार हैं। कभी-कभी तो इन विद्याओं को साधारण पढ़कर भी लोग इनमें इतने निष्णात हो जाते हैं कि इन विद्याओं को अन्त तक पढ़ने वाले भी उनकी समानता नहीं कर सकते। यह सत्य है कि किसी देश में इस प्रकार के निष्णात लोगों की कमी हो सकती है पर वह कमी इसलिए नहीं है कि उनका भारत या इस देश वासी अयोग्य हैं लेकिन सीखने के साधनों की कमी होने से वहाँ इस प्रकार के शिक्षितों की कमी है। हमारे अपने भारत में ही पहले डाक्टर और इन्जीनियरों की कमी थी। आज जब साधन विकसित हुए तो उनका विस्तार पहले से बहुत अधिक है।

समय सार की १८७ वी गाथा मे पुण्य पाप रूप दोनो प्रकार की प्रवृत्ति को रोककर दर्शन, ज्ञान, चरित्र मे ही आत्मा को स्थापन करने की प्रेरणा की गई है।

आत्मानुशासन मे भी पुण्य पाप के क्षय को मुक्ति बताया गया है। यथा—

> द्वेषानुरागबुद्धिर्गुणदोषकृता करोति खलु पापम्
> तद्विपरीता पुण्य तदुभयरहिता तयोर्मोक्षम् ॥१८१॥

दोष मे अनुराग और गुणो मे द्वेष से पाप होता है। इससे विपरीत पुण्य होता है उक्त दोनो के अभाव मे मोक्ष होता है।

कुन्द-कुन्द ने ससार परपरा का निम्न प्रकार वर्णन किया है—

ससारी जीव के भावो से कर्म बन्धते हैं, कर्म से गति, गति से देह की प्राप्ति, देह मे इन्द्रियो द्वारा विषय ग्रहण, विषय ग्रहण से राग और द्वेष होते है। इस प्रकार ससार चक्र चलता है[1]। आत्मानुशासन मे भी ऐसा ही उल्लेख है -

> आदौ तनोर्जननमत्र हतेन्द्रियाणि
> काङ्क्षन्ति तानि विषयान् विषयाश्च मान
> हानिप्रयासभयपापकुयोनिदा स्यु -

नहीं आती और वह गतव्य स्थान पर पहुचकर यही कहता है कि हम बिना कही रुके हुये सीधे चले आ रहे हैं। समयसार का अध्ययन करने वाला जो नयविवक्षा को नही समझता वह ग्रन्थ के प्रधान विषय को जिसका सम्बन्ध निश्चय नय से है पढता हुआ चला जाता है किन्तु अप्रधान विषय भी जिसका सम्बन्ध व्यवहार नय से आचार्य को अभीष्ट है उसपर ध्यान नही देता अतः पढने केबाद यही वह मानता है कि पुण्य सर्वथ हेय है, शरीर की क्रिया जड क्रिया है उससे आश्रव बन्ध नही होता, दान पूजा, महाव्रत आदि ससार भ्रमण के कारण है, निमित्त सर्वथा अकिंचित्कर है, मोटर पैट्रौल से नही चलती, हमारा हाथ हमारे उठाने नहीं उठती, रक्षा के भाव करना मिथ्यात्व है, एकान्तत सब कुछ नियत है इत्यादि एकान्त दृष्टि को लेकर वह समयसार की चर्चा करता है पर उसके अभिप्राय को नही समझता। कुन्दकुन्द की साक्षी देता है लेकिन समन्वयात्मक दृष्टि को नही पकड़ता, समयसार को आगम समझता है लेकिन दूसरे आगमो की उपेक्षा करता है।

अपनी सूक्तियों के समर्थन में उनका उपयोग किया है। जिससे ग्रन्थ का हृदय जन जन सबको सुलभ हो। आचार्य गुणभद्र में यह लोकप्रियता और सार्वजनिक बन कर रहने का गुण संभवत उन्हें अपने गुरु जिनसेन आचार्य से मिला था। आचार्य जिनसेन भी इसी ढंग के महर्षि थे। जैन सिद्धांत के चारों अनुयोगों के तो वे प्रकाण्ड अधिकारी विद्वान थे ही। सर्वप्रतिम आचार्य वीरसेन की अधूरी टीका को पूरा करने का दुरूह कार्य उन्हीं जैसे विद्वान कर सके थे। इसके अतिरिक्त संहिता शास्त्र पर भी उनका असाधारण अधिकार था। अनेक जैनाजैन स्मृति ग्रन्थों का उन्होंने आलोचन किया था। अपनी उदारवृत्ति से उन्होंने प्रसिद्ध कवि कालिदास के मेघदूत जैसे मनोरम एवं विप्रलम्भ शृंगार काव्य की समस्या पूर्ति भी की थी। जो उनकी सार्वजनिकता का असाधारण उदाहरण है। उन्हीं का अनुकरण आचार्य गुणभद्र ने आत्मानुशासन जैसे सार्वजनिक सूक्ति ग्रन्थ की रचना करके किया है। ऐसे ग्रन्थ में आचार्य कुन्दकुन्द की पारमार्थिक शब्दावली तथा अन्य आध्यात्मिक मान्यताओं का समावेश किया जाना गुणभद्राचार्य के लिए कठिन था। यह ग्रन्थ अपने ढंग की स्वतन्त्र रचना होने पर भी पूर्ववर्ती आचार्यों के प्रभाव से वंचित नहीं रह सकी है। अतः उसमें कुन्दकुन्द तथा अन्य आचार्यों का अनुकरण पाया जाता है पर वह साधारण प्रभाव में ही परिलक्षित होता है।

नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती

आचार्य नेमिचन्द्र विक्रम की ११ वीं शताब्दी के विद्वान हैं। आपका रचा हुआ गोम्मटसार जैन वाङ्मय में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। जैन सिद्धांत का परिष्कृत ज्ञान तब तक नहीं होता जब तक आपके उक्त ग्रन्थ का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन नहीं कर लिया जाता। आपकी एक दूसरी रचना द्रव्यसंग्रह है। इसमें द्रव्य के स्वरूप का वर्णन है जो परिपूर्ण है। यद्यपि ग्रन्थ की सम्पूर्ण गाथाएं केवल ५८ हैं। फिर भी इस लघुकाय ग्रन्थ में आचार्य ने बड़ी उपयोगी सामग्री दी है। समयसार जैसे दुरूह ग्रन्थ को हृदयंगम करने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी कथन प्रणाली को समझा जाय। समयसार का विषय इतना कठिन नहीं है जितना नय विवक्षा को लेकर उस विषय को अन्य आगम ग्रन्थों से समन्वय कर आत्मसात करना कठिन है। समयसार में यदि हम ध्यान से देखें तो स्पष्ट कहा गया है कि प्रतिपाद्य विषय में आगम विरोध का परिहार करते हुए व्यवहार नय को [illegible] किया जाय फिर भी ग्रन्थ निश्चय नय को प्रधान कर चलता है। व्यवहार नय का तो उसमें इतना ही उपयोग है जितना [illegible] के लिए निरोधक [illegible] (ब्रेक) का [illegible] है। [illegible] चलने वाला जिस [illegible] के [illegible] नहीं है [illegible] है। [illegible] के लिए [illegible] [illegible]

जीव कथचित् मूर्तामूर्त है वधा की अपेक्षा जीव और शरीर एक है स्वलक्षण की अपेक्षा भिन्न-भिन्न है। इसलिये जीव का अमूर्त भाव एकान्त से नही समझना चाहिये[1]।

इसी प्रकार जीव का कर्तृत्व और भोक्तृत्व भी आचार्य नेमिचन्द्र द्वारा दोनो दृष्टियां रखता है।

अभिप्राय यह है कि समयसार को आगमाविरोध रूप से ठीक २ समझने के लिये द्रव्यसग्रह की रचना की गई प्रतीत होती है। आचार्य नेमिचन्द्र जी गाथा के पूर्वार्द्ध मे व्यवहार दृष्टि देते है तो उसी गाथा के उत्तरार्द्ध मे निश्चय दृष्टि भी सामने रख देते है। अत द्रव्यसग्रह पढने के वाद समयसार को पढना सुगम हो जाता है। समयसार मे कोई उलझन नही होती।

हमारा अनुमान है कि विक्रम की नौ वी दसवी शताब्दि मे समयसार का विशेष पठन रहा होगा। किन्तु उसकी नय विवक्षा को न समझने के कारण स्वाध्याय कर्ताओ मे भ्रांति, सदेह, विपर्यास उत्पन्न हो जाता होगा। उसका निवारण करने के लिए ही आचार्य देवसेन ने नयचक्र तथा आचार्य नेमिचन्द्र ने द्रव्य सग्रह जैसे ग्रन्थो की रचना की होगी। आचार्य अमृतचन्द्र जी भी लगभग उसी समय के विद्वान है। इन्होने तो स्पष्ट स्वीकार किया है कि यह जिनवर का नयचक्र (चक्र एक प्रकार का शस्त्र होता है) जिसकी धार अत्यन्त तीक्ष्ण है सबके द्वारा प्रयुक्त नही हो सकता। जिन मनुष्यो ने इसका प्रयोग करते है वे दूसरे के स्थान पर अपना ही शिरच्छेद कर लेते है।

है संसारी है सिद्ध है, स्वभावतः ऊर्ध्वगामी है। इनमें से प्रत्येक अधिकार पर व्यवहार और निश्चय नय से विवेचन किया गया है।

जीव[1] अधिकार के बारे में वे लिखते हैं व्यवहार नय से तीनों काल में इन्द्रिय बल आयु और श्वासोच्छ्वास इन चार प्राणों से जो जीता है वह जीव है और निश्चय नय से चैतन्य जिसके प्राण है वह जीव है[1]।

जीव का उक्त लक्षण समन्वयात्मक होने से कितना निर्बाध है यह विचारक दृष्टि से अज्ञात नहीं है। आगम मे लिखा है कि प्रमाद पूर्वक प्राणों का व्यपरोपण करना हिंसा है[2]। यदि निश्चय नय के एकान्त से विचार किया जाय तो निश्चय दृष्टि तो मात्र चैतन्य प्राणों को ही मानती है। और चैतन्य प्राणों का कभी व्यपरोपण नहीं होता अतः आगम का उक्त लक्षण मिथ्या सिद्ध हो जाता है। तब इसका समन्वय इसी तरह हो सकता है कि इन्द्रियादिक भी व्यवहार दृष्टि से प्राण हैं और उन का व्यपरोपण होता है अतः आगम से कोई विरोध नहीं आता। इसी तरह यदि व्यवहार नय के एकान्त से इन्द्रियादिक प्राणों के धारक को ही जीव माना जाय तो सिद्ध गति में इन्द्रियादिक नहीं होती। अतः सिद्ध जीव निर्जीव हो जायेंगे। इसलिये निश्चय की अपेक्षा चैतन्य प्राणों को भी प्राण मानना ही होगा।

इसके बाद दूसरे अधिकार में जीव को उपयोग मय सिद्ध करते हुए भी व्यवहार और निश्चय दृष्टि को अपनाया है। लिखते हैं व्यवहारनय से आठ ज्ञान और चार दर्शन सामान्य जीव का लक्षण है और निश्चयनय से शुद्ध ज्ञान और दर्शन जीव का लक्षण[3] है। यहाँ भी ऊपर जैसा समन्वय बुद्धि आचार्य की काम कर रही है। सिद्ध जीवों के आठ ज्ञान और चार दर्शन नहीं होते तथा संसारी जीवों में शुद्ध ज्ञान और शुद्ध दर्शन नहीं होते संसारी जीवों में भी आठ ज्ञान वाला कोई नहीं होता। आगम में एक जीव के युगपत् चार ज्ञान ही बतलाए हैं इसलिए नाना जीवों की अपेक्षा यहाँ सामान्य पद दिया है। इस प्रकार सभी दृष्टियों का समन्वय करते हुये जीव को उपयोगमय सिद्ध किया है।

आगे जीव को अमूर्तिक बतलाते हुए उसे बंध की अपेक्षा से मूर्तिक भी बतलाया है।[4] जो [illegible] जीव को एकान्त से अमूर्त मान कर इस [illegible] शरीर को मात्र जड़ की क्रिया मानते हैं उनका आचार्य [illegible] का इस गाथा से [illegible] हो जाता है। संसार धारी जीव जब तक (कर्म नो कर्म द्रव्य की [illegible]) है तब [illegible] मूर्त उस समय जीव ही है जड़ नहीं है। [illegible]

---

१ द्रव्य संग्रह गा [illegible]।

२ तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ७।

३ द्रव्य संग्रह गाथा ७।

जासु ण वण्णु ण गंधु रसु जासु ण सद्दु ण फासु
जासु ण जम्मणु मरणु णवि णाउ णिरंजणु तासु ॥१९॥ प० । प्र० ।
जीवस्स णत्थि वण्णो णवि गंधो णवि रसो णवि य फासो ।
णवि रूवं ण सरीरं णवि संठाणं ण संहणणं ॥५०॥ स० स०

उक्त दोनों रचनाओं में जीव के वर्ण गंधादि नहीं है कहकर जीव के स्वरूप का उपक्रम किया है। और साथ ही वर्णादिक का क्रम भी दोनों का एक है। अर्थात वर्ण, रस, गंध स्पर्श रूप क्रम समयसार की तरह परमात्म प्रकाश में भी अपनाया गया है। समयसार में "शब्द" विशेषण का उपयोग इसलिये नहीं किया कि उसके पहले ४९ वीं गाथा में वे "असद्द" का प्रयोग कर आये हैं।

पुनः ३१ वें दोहे में योगीन्दु ने समयसार की ४९ वीं गाथा का अनुकरण किया है। यहां भी जीव के विशेषणों का नय समास के आधार पर वर्णन किया गया है। विशेषण दोनों जगह शाब्दिक भिन्नता को धारण करते हुये भी अर्थत एक है।

'परमात्म प्रकाश में देह के छिदने भिदने पर भी शुद्ध आत्मा की भावना पर जोर दिया गया है। यह समयसार की २१९ वीं गाथा का यथार्थ अनुकरण है। समयसार में उस भावना को ही मुख्य रूप दिया गया है। दोनों के उदाहरण भी देखिये —

परमात्म प्रकाश मे अणु मात्र राग रहने पर भी जीव को परमार्थ से अनभिज्ञ बतलाया है। यह समयसार की गाथा २०१ का अनुकरण है। समयसार मे ठीक वे ही शब्द है जो परमात्म प्रकाश मे है। समयसार मे लिखा है—परमाणु मात्र भी राग जिसके विद्यमान है वह आगम का ज्ञाता होकर भी आत्मा को नही जानता।

समयसार की उक्त गाथा मे 'सव्वागम धरोवि' पद दिया है इसका अनुकरण करते हुए योगीन्दु पुनः एक दोहा रचते हैं जिसका भाव यह है।

"शास्त्र पढता हुआ भी वह जड है जो विकल्पो को दूर नही करता और देह मे निवास करने वाले परमात्मा को नही जानता।"

इस प्रकार अनेक स्थलो पर परमात्म प्रकाश ने शब्दश एव अर्थतः समयसार का अनुकरण किया है। यहा हम एक दो उदाहरण सामान्य रूप से देकर इस प्रकरण को समाप्त करेंगे।

स० गा०— णय राय दोसमोह कुव्वदिणाणी कसायभाव वा
सय मप्पणो ण सो तेण कारगो तेसि भावाण ॥२८०॥

प० प्र०- राय दोस वे परिहरिवि जे सम जीव णियति
ते समभाव परिट्ठीया लहु णिव्वाणु लहति ॥१००॥

स० गा० एदम्हि रदो णिच्च सतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि
एदेण होहि तित्तो, होहदि तुह उत्तम सो [illegible] ॥२०६॥

प० प्र० -अप्पायत्तउ [illegible] जि सुहु तेणजि कर सतोसु
[illegible] हियइ ण फिट्टइ सोसु ॥१५४॥

उक्त प्रकरण समयसार की १५२ तथा १५३ वी गाथा का अनुकरण है। वहाँ इस प्रकरण को इस तरह लिखा है —

परमार्थ में स्थित न होकर जो तप व्रत धारण करता है उस सब को सर्वज्ञ भगवान ने बाल तप और बालव्रत कहा है

जो व्रत नियम धारण करते हैं शील का पालन करते हैं तपश्चरण भी करते हैं किन्तु परमार्थ से बहिर्भूत हैं वे मोक्ष को प्राप्त नहीं करते[1]।

अभिप्राय यह है कि परमात्मप्रकाश और समयसार दोनों में शुद्ध आत्मा की भावना किये बिना व्रत तप शीलादि को निरर्थक बताया है।

परमात्मप्रकाश में योगीन्दु प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान आलोचना का उसी प्रकार निषेध करते हैं जैसे कुन्द कुन्द समयसार में उनका निषेध करते हैं। कुन्द कुन्द ने उन्हें विष कुम्भ बताया है और ज्योतिन्दु कहते हैं कि ज्ञानी के ये नहीं होते। योगीन्दु ने इसके लिये तीन दोहा की रचना की है जिनका भाव निम्न प्रकार है —

वन्दना निन्दा प्रतिक्रमण ये पुण्य के कारण हैं। ज्ञानी पुरुष स्वयं किसी को न करते हैं न कराते हैं न अनुमति प्रदान करते हैं। एक ज्ञान मय शुद्ध आत्मा को छोड़कर उक्त तीनों बातें करना ज्ञानियों को युक्त नहीं है। अशुद्ध भाव रखने वाला पुरुष वन्दना करे अपनी निन्दा करे प्रतिक्रमण करे मन शुद्धि न होने से उसके संयम नहीं हो सकता[2]।

समयसार में इसी भाव को इस तरह लिखा गया है —

प्रतिक्रमण प्रतिसरण परिहार धारणा निवृत्ति निन्दा गर्हा शुद्धि यह आठ प्रकार का विष कुम्भ है। और इन को न करना आठ प्रकार का अमृत कुम्भ है[3]।

परमात्म प्रकाश में ज्ञान पर जोर देते हुए लिखा है हे जीव ज्ञान से विहीन किसी को भी तू मोक्ष न देखना जल जल को बिलौने से हाथ चिकने नहीं होते[4]।

समयसार में ज्ञान पर ही जोर देते हुए यही लिखा है —

ज्ञान गुण से रहित बहुत पुरुष इस पद (मोक्ष) को प्राप्त नहीं करते हैं। इसलिये कर्म से मुक्ति पाने के लिये इस ज्ञान गुण को तू प्राप्त कर[5]।

---

१ परमट्ठम्मि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेई
तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू ॥ स सा
वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता
परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति ॥ स० सा० ॥

२ परमात्म प्रकाश दोहा ६४ ६५ ६६।

३ स सा गाथा ३०६ ३०७।

४ प० प्र० दोहा ७४।

५ स० सा० गाथा २०५।

कथित समयसार को कहने की प्रतिज्ञा की है। अध्यात्म रहस्य मे भगवान महावीर को सिद्ध स्थानीय और गौतम को श्रुति केवली स्थानीय मानकर नमस्कार किया है। गौतम गणधर तो स्पष्ट श्रुत केवली है ही। और महावीर के साथ कोई ऐसा विशेषण नही है जिससे उन्हे अर्हत् महावीर ही माना जाय सिद्ध महावीर न माना जाय जिस निज पद को देने वाला महावीर को बताया है वह उनका निज पद मुक्ति पद ही है जहा सिद्ध विराजते है। अत इस मगलाचरण को करते समय आशाधरजी की दृष्टि अवश्य समयसार के मगलाचरण पर रही है।

निज पद का अर्थ सिद्धगति का वह विशेषण वाला पद भी हो सकता है जिसमे उसे ध्रुव अचल और अनुपम बतलाया है।[1] अर्थात् उन वीरनाथ को नमस्कार है जो ध्रुव, अचल और अनुपम निजपद भव्यो को प्रदान करते है।

इसी प्रकार कुन्दकुन्द की 'पण्णा' और अमृतचन्द्र की स्वानुभूति को प० आशाधरजी ने सविति या दृष्टि नाम से लिखा है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है—'साधु को दर्शन, ज्ञान, चारित्र का सेवन करना चाहिए क्योंकि परमार्थत —वे तीनो एक आत्मा ही है।[2]

अध्यात्म रहस्य मे प० आशाधरजी लिखते हैं—

[illegible] आत्मा ही परमार्थत मोक्षमार्ग है अत मुमुक्षु पुरुषो को [illegible] उसकी इच्छा करना चाहिये, उसको देखना चाहिये।[3]

समयसार मे सम्यक् दृष्टि को किस प्रकार स्वरूप का सचेतन करना चाहिए। [illegible] लिखते है—

[illegible] निर्मम हू दर्शन ज्ञानमय हूँ। उसमे स्थित होकर और [illegible] सब आस्रव भावो का क्षय करता हू।[4]

[illegible] से भिन्न यह (पर पदार्थ) मैं हू, मैं यह करता हू [illegible] चिन्तन को छोड देना चाहिये।[5]

के समयसार का आपने पर्याप्त मनन किया था । उसके अध्ययन से प्रथमवार तो मार्ग मे ही भटक गये थे । लेकिन साथी विद्वानो की सगति खासकर पाडे रूपचद जी की सगति मे अन्य ग्रन्थो की साक्षिपूर्वक समयसार के पढने से उन्हे सद्वोध प्राप्त हुआ और बाद मे समयसार नाटक आदि ग्रन्थो की रचना की यह एक प्रकार से समयसार का पद्यात्मक अनुवाद है पर वह इतना प्रामाणिक और सुसवद्ध है कि उसे पढकर मूलग्रन्थ जैसा ही आनन्द आता है । कही-कही तो भावो की स्पष्टता मूलग्रन्थ से आगे बढ गई है और ऐसा मालूम पडता है कि यह कोई मौलिक ग्रन्थ है तथा दूसरे सब इसकी छायामात्र है ।

नाटक समयसार के अतिरिक्त इनकी निम्न आध्यात्मिक रचनाए इस प्रकार है —

त्मिक शैली। इस सम्बन्ध म एक प्राचीन दोहा प्रचलित था, जिसे हमने सर सेठ हुकम चन्द जी इन्दौर के मुख से सुना था। हमारे शास्त्र प्रवचन गे प्रसगानुसार वे कहा करते थे—

आतमज्ञानी आगरे पडित सागानेर
पक्षपात गुजरात मे, निंदा जैसलमेर ॥

सागानेर से मतलब यहाँ जयपुर से है क्योकि जयपुर के राजाओ की राजधानी उस समय सागानेर थी।

जिन पडित दौलतराम जी की चर्चा की जा रही है वे आगरे के निकट हाथरस के रहने वाले थे। और उन्ही आध्यात्मिक पण्डितो मे एक थे। आपका आगम ज्ञान भी बहुत परिमार्जित था। आपने छ ढाला नामक ग्रन्थ की रचना की है। रचना छोटी है और बालको को पढाई जाती है फिर भी वह गभीर भावो से ओत प्रोत है, थोडे मे बहुत कुछ कहा गया है। केवल रटाने की दृष्टि से ही यह बालको के पढने लायक है अन्यथा उसके प्रसग प्रौढ उम्र के पुरुष भी नही समझ पाते हैं इसीलिए हमने उसे ग्रन्थ कहा है। हिन्दी मे जैन सिद्धात को समझाने वाला ऐसा सागोपाग ग्रन्थ उपलब्ध नही है। यदि व्यक्ति इसका ही परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त करे तो वह जैन सिद्धांत का अच्छा ज्ञाता बन सकता है। सभवत इसी लिए यह बालको को पढाया जाता है क्योकि जैन समाज व्यापारी समाज है उसे [illegible] बालको को अधिक पढाने का अवकाश ही कहा है। थोडा पढकर ज्ञान प्राप्त करने की नीति से ही छ ढाला बालको को पढने के लिए उपयुक्त समझी गई ऐसी हमारी धारणा है। लेकिन छः ढाला का रस प्रौढ उम्र मे आता है

रूप आत्मा इन दोनों रोगों से शून्य है। मूढ़ मिथ्यादृष्टि जीव पाप से डरते हैं और पुण्य की इच्छा करते हैं। लेकिन यह उनकी भूल है। पाप विकार से भय संताप आदि रोग पैदा होते हैं तथा पुण्य विकार से विषय राग बढ़ता है अतः रोग रूप पीड़ा उत्पन्न होती है। रोग दोनों ही समान हैं। लेकिन मूढ़ यह नहीं पहचानते। वे कंप रोग से भय खाते हैं और अकड़ रोग से प्रेम करते हैं। कंप रोग में कभी कछुए जैसा संकोच है कभी घोड़े जैसी वक्र चाल है और अकड़ रोग में कहीं बकरे जैसी उमंग की कूद फांद है कभी बंदर जैसी उछल कूद है। अंधकार और प्रकाश दोनों ही पुद्गल की देन हैं लेकिन मूढ़ इसमें भेद भान नहीं करता कोई पहाड़ से गिरकर मरे या कुए में डूब कर मरे मरण दोनों का एकसा है [illegible] के लिये वे मरण के [illegible] रूप हैं। पुण्य और पाप दोनों की माता वेदनीय प्रकृति है और दोनों का पिता मोहनीय है बेड़ी सुवर्ण की हो या लोह की दोनों ही बंधनकारक हैं।[1] इसी प्रकार बनारसीदासजी की अन्य आध्यात्मिक रचनाओं में भी कहीं समयसार के भावों की छाया कहीं उनका विस्तार कहीं उसी बात का प्रकारान्तर से कथन पाया जाता है। अपनी आध्यात्मिक रचनाओं के लिए प० बनारसीदासजी कुन्दकुन्द के सर्वथा ऋणी हैं। और इसी कारण से अपने समय में आप ही एकमात्र समयसार के पंडित गिने जाते थे। मानो कुन्दकुन्द का आपको वरदान प्राप्त था। आपकी रचनाओं में प्रायः आध्यात्मिक रचनाएँ ही अधिक हैं। जिस पर कुन्दकुन्द की छाप है। विक्रम की १७वीं शताब्दि में अध्यात्म का अलख जगाने वालों में प० बनारसीदासजी का नाम अमर रहेगा। और जब तक उनकी कृतियाँ मौजूद हैं तब तक वे कुन्दकुन्द के मूल साहित्य को पढ़ने की प्रेरणा करती रहेंगी।

प० दौलतरामजी

प० बनारसीदासजी के बाद जैनों में संस्कृत का पठन पाठन बहुत कम हो गया था। स्वयं बनारसीदास जी के समय में भी जैनों में पठन पाठन की तरफ से उदासीनता थी। बनारसीदासजी का पढ़ना भी उनके पिता [illegible] को [illegible] अखरता था। [illegible] बालक बनारसीदास से कहा करते थे [illegible] वणिक पुत्रों को [illegible] संस्कृत अध्ययन के लिए [illegible] विचार उस समय का प्रतिनिधित्व करता है। [illegible] में भी कुछ विद्वान [illegible] संस्कृत का [illegible] और जिन्होंने हिन्दी [illegible] जयपुर और आगरा में ही [illegible]

---

[1] ज्ञान [illegible] दोहा २२ से १६ तक

जी ने इस शुद्धोपयोग का वर्णन छठी ढाल में किया है।[1] और लिखा है कि यह भेद विज्ञानी तीक्ष्ण प्रज्ञारूपी छैनी भीतर डालकर जब भेदन करता है तब नोकर्म द्रव्य कर्म और भाव कर्मों से अपने आत्म स्वभाव को भिन्न कर लेता है। भेद विज्ञान का यही अभिप्राय है। अन्यथा शरीर और रागादि भावों से आत्मा अलग है यह ज्ञान तो मिथ्यादृष्टि को भी होता है वह श्रद्धापूर्वक अनुभवात्मक नहीं है। जानना और अनुभव करना दोनों भिन्न भिन्न हैं। अत अनुभवात्मक आचरण ही वीतराग भेद विज्ञान है और वह श्रेणी चढ़ते समय होता है। मंगलाचरण में पं० दौलतराम जी का वीतराग विज्ञान से इसी भेद ज्ञान की ओर संकेत है। समयसार में इस भेद विज्ञान की पर्याप्त चर्चा की गई है। आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

> संपद्यते संवर एष साक्षा—
> च्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात ॥
> स भेदविज्ञानत एव तस्मात।
> तद्भेदविज्ञानमतीवभाव्यम ॥१२९॥ स कलश
> भावयेद भेदविज्ञानमिदमच्छिन्न धारया
> तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञान ज्ञाने प्रतिष्ठित ॥१३०॥ स क
> भेद विज्ञानत सिद्धा सिद्धा ये किल केचन
> तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥१३१॥ स क

इन श्लोकों के अर्थ की आवश्यकता नहीं है क्योंकि ये अपने आप में स्पष्ट हैं। इनको दृष्टिगत रखते हुए दौलतराम जी के वीतराग विज्ञान का अर्थ समझा जा सकता है।

मंगलाचरण के दूसरे चरण में उस वीतराग विज्ञान को शिव स्वरूप और शिवकार बताया है। इन दो विशेषणों में भी उनका विशिष्ट अभिप्राय निहित है। केवल अनुप्रास या सौन्दर्य लाने के लिए उनका प्रयोग नहीं है। दौलतराम जी के मस्तिष्क में इस मंगलाचरण की रचना करते समय कार्य और कारण समयसार का [illegible] उपस्थित था।[2] वे कहना चाहते हैं कि यह वीतराग विज्ञान स्वयं कारण रूप भी है और कार्य रूप भी। इसके लिए कोई अन्य कारण नहीं है या यह किसी [illegible] [illegible] का कार्य नहीं है। शिव स्वरूप का अर्थ है यह स्वयं [illegible] है और शिवकार का अर्थ है यह अपना कार्य का स्वयं कारण है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नाम के [illegible] नहीं है। भेद विज्ञान का प्रयोजन [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है। समयसार आत्मा निम्न है —

---

[1] छ ढाला पद्य ८ ११।
[2] देखो निजसमयसार का साध्य व्रत।

पट्ट पर बैठने वाले आचार्यों के सदृश ज्ञानी नहीं थे यह नहीं कहा जा सकता। प्रवचन सार समयसार पंचास्तिकाय आदि प्रौढ ग्रन्थों की रचना उनके असाधारण ज्ञान के परिचायक हैं।

यह उनका ज्ञान बल ही था जिसके द्वारा उन्होंने निर्भीकता से तत्काल न जनता को मार्ग दर्शन दिया। नग्नत्व छोड़कर वस्त्रधारी साधुओं से कहा कि यह उन्मार्ग है। और मात्र नग्न रहकर साधुता की भावनाओं में हीन वेषधारियों से कहा कि नग्न व्यक्ति दुःख उठाता है नग्न पशु भी रहते हैं। तब फिर साधुओं को कैसा होना चाहिये इस सम्बन्ध में उन्होंने बोध पाहुड में बड़ा मार्मिक विवेचन किया है।

यदि विक्रम की प्रथम शताब्दि में कुन्द कुन्द जैसे महान आचार्य न हुये होते तो आज यह जान सकना भी कठिन था कि महावीर का कोई अचेलक धर्म भी था। दिगम्बर दीक्षा के दर्शन भी न होते। उनके समयसार ने सामाजिक जीवन को नया मोड़ दिया। अनात्मवाद के धूआधार प्रचार से लोगों ने जिस काम और भोग को अपना लिया था कुन्दकुन्द के समयसार ने उनमें से बहुतों का संरक्षण किया।

कुन्द कुन्द के अध्यात्मवाद से अनात्मवादियों के प्रचार में गतिरोध उत्पन्न हुआ। अनेक श्रमण जो उस सामाजिक प्रवाह में बहे जा रहे थे अपनी वास्तविक स्थिति को पहचान सके और बाद में पुनः भगवान महावीर की श्रमण परम्परा में सम्मिलित हो गये।

इस प्रकार श्रमणों के संरक्षक युग प्रतिष्ठापक गणधर कल्प भगवान कुन्द कुन्द द्वारा किये गये उपकारों का स्मरण कर मैं इस निबन्ध को समाप्त करता हूँ।

अयमात्मा पराक्षोऽपि पुरस्तान्नि दर्शित
समयप्राभृते येन कोण्डकुन्द स वन्द्यते ॥१॥
श्रुतकेवलिकल्पस्य मुनेस्तस्य प्रसादत
निबन्ध वदतानुद्ध बुधो लालबहादुर ॥२॥

•

उपसंहार

अब तक जो कुछ कहा जा चुका है उसका सार यह है कि कुन्दकुन्द बड़े प्रभावक आचार्य थे। युग निर्माण में उन्होंने जो हाथ बटाया उसके पहले यह काम किसी ने नहीं किया। बारह वर्ष के दुर्भिक्ष के बाद और कुन्द कुन्द के प्रभाव में आने से पहले धार्मिक स्थिति बड़ी डवाडोल रही। राजनीतिक उखाड़ पछाड़ के कारण किसी को इधर ध्यान देने का अवकाश नहीं था। एकदेशीय श्रुत के अधिकारी आचार्यों की परम्परा चालू थी पर उनका प्रभाव और श्रुतज्ञान उन्हीं तक सीमित था। इसका कारण यहां था कि वे किसी झगड़े में नहीं पड़ना चाहते थे। अपने संघ के साथ विचरना और अपने में ही पठन पाठन की प्रवृत्ति रखना उनका ध्येय रहता था। इसका परिणाम यह हुआ जैन सम्प्रदाय में अनेक मतभेद खड़े हो गए। जैनत्व के नाम पर अनेक पंथ और अनेक मान्यताएं प्रचलित हो गईं। कोई एक दूसरे की बात को मानने के लिए तयार नहीं था। पार्श्वस्थ संसक्त आदि अनेक वेषधारी श्रमण विचरण करने लगे थे। बौद्ध साधु कापालिक त्रिदंडी आदि भी वेशों में अनुरक्त रहते थे। निर्ग्रन्थत्व की अवहेलना कर जैन श्रमणों में वस्त्र धारण का प्रचार हो चला था। इस तरह भगवान महावीर का शासन तो जर्जरित हो रहा था उधर बुद्ध जो भगवान महावीर के समकालीन थे उनका शासन भी अपने मूल रूप में नहीं रह सका। महायान सम्प्रदाय जो ईसवी पूर्व ही उत्पन्न हो चुका था शून्यवाद के प्रचार में लगा था। यह शून्यवाद अनात्मवाद में परिवर्तित हो गया। इस अनात्मवाद के परिणाम बड़े भयंकर हुए। अनात्मवाद से परलोक गया। और जब परलोक नहीं रहा तो लोगों ने आत्मवंचना को ही धर्म मान लिया। [illegible] चौरासी सिद्ध हुए। [illegible] का निर्माण हुआ मद्य मांस मैथुन आदि सभी धर्म के अंग बन गए। इस बौद्ध धर्म की [illegible]

पट्ट पर बैठने वाले आचार्यों के समान ज्ञानी नहीं थे यह नहीं कहा जा सकता। प्रवचन सार समयसार पंचास्तिकाय आदि ग्रंथ ग्रन्थों की रचना उनके असाधारण ज्ञान के परिचायक हैं।

यह उनका ज्ञान बल ही था जिसके द्वारा उन्होंने निर्भीकता से तत्कालीन जनता को मार्ग दर्शन दिया। नग्नत्व छोड़कर वस्त्रधारी साधुओं से कहा कि यह उन्मार्ग है। और मात्र नग्न रहकर साधुता की भावनाओं से हीन वेषधारियों से कहा कि नग्न व्यक्ति दुःख उठाता है नग्न पशु भी रहते हैं। तब फिर साधुओं को कैसा होना चाहिए इस संबंध में उन्होंने बोध पाहुड में बड़ा मार्मिक विवेचन किया है।

यदि विक्रम की प्रथम शताब्दि में कुन्द कुन्द जैसे महान आचार्य न हुए होते तो आज यह जान सकना भी कठिन था कि महावीर का कोई अचेलक धर्म भी था। दिगम्बरी दीक्षा के दर्शन भी न होते। उनके समयसार ने सामाजिक जीवन को नया मोड़ दिया। अनात्मवाद के धुआंधार प्रचार से लोगों ने जिस काम और भोग को अपना लिया था कुन्दकुन्द के समयसार ने उनमें से बहुतों का संरक्षण किया।

कुन्द कुन्द के अध्यात्मवाद से अनात्मवादियों के प्रचार में प्रतिरोध उत्पन्न हुआ। अनेक श्रमण जो उस सामाजिक प्रवाह में बह जा रहे थे अपनी वास्तविक स्थिति को पहचान सके और बाद में पुनः भगवान महावीर की श्रमण परम्परा में सम्मिलित हो गये।

इस प्रकार श्रमणों के संरक्षक युग प्रतिष्ठापक गणधर कल्प भगवान कुन्द कुन्द द्वारा किये गये उपकारों का स्मरण कर मैं इस निबन्ध को समाप्त करता हूँ।

> अयमात्मा परोक्षोऽपि गुरुतोऽपि दर्शित
> समयप्राभृत मन का कुन्दकुन्द स वन्दत ॥१॥
> प्रूतवर्षलिवस्यस्य मुनरमस्य प्रसादत
> निबन्ध बद्धवानुद बुधो लाभबहादुर ॥२॥